TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

TIGHT BINGING BOOK

UNIVERSAL LIBRARY
OU_178269
UNIVERSAL LIBRARY

कालिदास की निरङ्कुशता

का

लेखक

महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, प्रयाग

प्र   १९१९   मूल्य ।)..

Printed and published by Apurva Krishna Bose,
at the Indian Press, Allahabad.

सूचीपत्र

		पृष्ठ
१	विषयारम्भ	१
२	उपमा की हीनता	७
३	उद्वेग-जनक उक्ति	९
४	अनौचित्य-दर्शक उक्ति	१२
५	रस-सम्बन्धी अनौचित्य	१९
६	व्याकरण-सम्बन्धी अनौचित्य	२१
७	नाम-सम्बन्धी अनौचित्य	४०
८	इतिहास-सम्बन्धी अनौचित्य	४२
९	यति-भङ्ग	४५
१०	पुनरुक्ति	४७
११	अधिकपदत्व	४९
१२	श्रुतिकटुत्व	५०
१३	जुगुप्सा-व्यञ्जक	५२
१४	ग्राम्य-भाव-व्यञ्जक...	५२
१५	अविमृष्ट-विधेयांश	५३
१६	निहतार्थता	५५
१७	क्रमभङ्गता	५६
१८	उपसंहार	६०

कालिदास की निरङ्कुशता

विषयारम्भ ।

कवि होना कठिन काम है। महाकवि होना और भी कठिन काम है। कवित्व में सिद्धि प्राप्त करने के लिए बहुत पुण्य चाहिए; हृदय में ईश्वरदत्त कवित्व-बीज चाहिए। परिश्रम भी चाहिए, अध्ययन भी चाहिए, मनन भी चाहिए। जो लोग कवि बनने की उच्च आकांक्षा रखते हैं उन्हें बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अनेक परीक्षाओं में उन्हें उत्तीर्ण होना पड़ता है; अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं; अनेक अवहेलनायें सहन करनी पड़ती हैं। कवित्व-शक्ति बहुत ऊँचे दरजे की शक्ति है। इसी से ईश्वर किसी बिरलेही भाग्यवान् को उससे विभूषित करता है।

कवियों ही के नहीं, महाकवियों के भी काम में कभी कभी अचिन्त्य बाधायें उपस्थित हो जाती हैं। कभी कभी तो वे दूर हो जाती हैं, कभी कभी नहीं भी होती हैं। और, यदि, होती भी हैं तो बहुत तंग होने पर। जो कवि हैं और कवि-कर्म्म की कठिनाइयों को झेल चुके हैं वे इस बात को औरों की अपेक्षा अधिक समझ सकते हैं। बहुधा ऐसा होता है कि भाव अच्छा

सूझ जाता है, पर उसे प्रकट करने के लिए समुचित शब्द नहीं मिलते। यदि शब्द मिल जाते हैं तो भाव में न्यूनाधिकता उपस्थित होने लगती है। उधर छन्द न बिगड़ने का ख़याल मारे डालता है। कोई बात देश, काल, स्वभाव और पात्र के विरुद्ध तो नहीं; कहीं शास्त्रीय बातों की सीमा का उल्लंघन तो नहीं हुआ; लोकाचार के विपरीत तो कोई बात नहीं कही गई—ऐसी ऐसी न मालूम कितनी बातों का विचार कवियों को पद पद पर करना पड़ता है। जिस समय कविता करने की इच्छा या कामना उच्छृंखल हो उठती है उस समय मन में उत्पन्न हुए विकार प्रकट किये बिना नहीं रहा जाता। ऐसे समय में विचारों या विकारों को शब्दरूपी साँचे में ढालने से एक प्रकार का विलक्षण आनन्द होता है। उसका अनुभव इतर जन नहीं कर सकते;—कविही कर सकते हैं। उस प्रमोद-मद में मस्त होकर कवि-जन लोकरीति, शास्त्ररीति और शब्दशास्त्र आदि के नियमों का कभी कभी उल्लंघन कर जाते हैं। यह बात जान बूझ कर भी हो सकती है और बे जाने भी। ऋषियों और मुनियों तक से ये बातें हो सकती हैं और हुई भी हैं—"मुनीनाञ्च मतिभ्रमः"। आदराधिक्य के कारण टीकाकार और समालोचक लोग कवियों की कविता के अन्तर्गत ऐसे ऐसे स्थलों को भूल या प्रमाद में नहीं गिनते। उन्हें वे कवि की निरङ्कुशता कहते हैं। महाकवि कालिदास भी इस निरङ्कुशता से नहीं बचे।

इस लेख का नाम-निर्देश देखकर ही शायद कोई कोई

पाठक बिगड़ उठें। महाकवि कालिदास और निरङ्कुशता! कविकुलगुरु पर ऐसा गुरुतर दोषारोप!! छोटे मुँह बड़ी बात!!! ऐसा आरोप जो लोग हम पर करें, प्रसन्नतापूर्वक कर सकते हैं हम उनके लिए यह लेख नहीं लिखते। जिनके विचार हमारे ही ऐसे हैं, उन्हीं का मनोरञ्जन हम इस लेख से करना चाहते हैं। विधि-विडम्बना और नैषधचरितचर्चा लिखने और बाबू हरिश्चन्द्र की दो एक बातों की समालोचना करने के कारण हम पर जो आरोप, प्रकोप और आक्षेप हुए हैं उनकी याद हिन्दी-साहित्य के प्रेमियों को अब तक बनी होगी। तिस पर भी हम यह लेख लिखने जाते हैं। इसका कारण यह है कि पूर्वोक्त प्रकार के आक्षेपों के हम क़ायल नहीं। खण्डन, मण्डन और समालोचन की रीति परम्परा से चली आई है। शङ्कराचार्य्य और कुमारिल भट्ट तक ने अपने पूर्वाचार्य्यों के मत की समालोचना की है और कहीं कहीं बड़े कड़े शब्दों में की है। औरों की तो बात ही क्या। कालिदास के रघुवंश की टीका मल्लिनाथ, हेमाद्रि, सुमतिविजय, वल्लभ और दिनकर मिश्र आदि कितने ही विद्वानों ने की है और पूर्व पूर्व टीकाकारों की भूलें दिखलाई हैं। इन लोगों ने यथास्थान कालिदास पर भी चोटें की हैं और उनके दोषों का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया है। अलङ्कारशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाले ग्रन्थों में तो कालिदास आदि पुराने कवियों की कविता के दोष बड़ेही निष्ठुरता से दिखाये गये हैं। इस दशा में इन लोगों के दिखलाये या निर्म्माण किये

हुए मार्ग से यदि हमारे समान अल्पज्ञ मनुष्य भी जाने का यत्न करे तो कोई आक्षेप की बात नहीं। और, यदि, हो भी तो हो:—

न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते

यह खुद कालिदास का वचन है।

कालिदास की निरङ्कुशता के उदाहरण संस्कृत के ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर दिये जा चुके हैं। तथापि, हिन्दी में उनका दिया जाना यदि बुरा और पाप समझा जाय तो ऐसी समझ रखनेवालों से हमारा एक निवेदन है। कालिदास ने रघुवंश के आरंभ ही में लिखा है:—

जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ

कालिदास को शङ्कर-पार्वती का इष्ट था। वे उनके इष्टदेव थे, यह एक बात। दूसरी बात यह कि उन्हें वे सारे संसार का माता-पिता समझते थे। इन्हीं जगत् के पितर और अपने इष्टदेव की शृङ्गाररससम्बन्धिनी चेष्टाओं का वर्णन कालिदास ने एक साधारण कामुक की तरह कुमारसंभव में किया है। अपने माता-पिता के विषय में कोई मनुष्य ऐसी बात मुँह से नहीं निकालता, फिर संसार के मातापिता के विषय में! क्या यह कालिदास की निरङ्कुशता नहीं? यदि इस काम को आप पाप या अनुचित कर्म्म नहीं समझते तो क्या इसकी गिनती निरङ्कुशता में भी नहीं कर सकते? अतएव, यदि और किसी कारण से नहीं, तो अकेले इस एक कारण से तो उनकी निरङ्कुशताओं की समालोचना अवश्यही क्षमा की जाने योग्य है। इस तरह

को समालोचना कालिदास के इस अनुचित काम का प्रायश्चित्त मान लीजिए। माता-पिता का सम्भोग-वर्णन करनेवाले को क्या इतना भी दण्ड देना मुनासिब नहीं ? मम्मट भट्ट ने तो उत्तम-देवता-विषयक सम्भोग-शृङ्गार-वर्णन को भी महा अनुचित माना है। उन्होंने काव्यप्रकाश में लिखा है :—

रतिः सम्भोगशृङ्गाररूपा उत्तमदेवताविषया न वर्णनीया ;
तद्वर्णनं हि पित्रोः सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम् ।

पाठक, विश्वास कीजिए यह लेख हम कालिदास के दोष दिखला कर उनमें आपकी श्रद्धा कम करने के इरादे से नहीं लिख रहे। ऐसा करना हम घोर पाप समझते हैं—भारी कृतघ्नता समझते हैं। इसे आप केवल वाग्विलास समझिए। यह केवल आपका मनोरञ्जन करने के लिए है। कालिदास को हम महाकवि ही नहीं समझते हैं: हम उन्हें देवता समझते हैं, पूजनीय समझते हैं, अपना गुरु समझते हैं। अभी इस एक वर्ष की बीमारी में—और बीमारी अब तक गई नहीं—हमने गीता नहीं पढ़ी, श्रीमद्भागवत का पारायण नहीं किया, वाल्मीकिरामायण नहीं देखा। जब कभी हमने कुछ पढ़ा है, रघुवंश पढ़ा है। इससे आप जान सकेंगे कि हमारे हृदय में कालिदास का कितना आदर है। और, यह इसी आदर और अवलोकन का फल है जो हम यह लेख लिखने बैठे हैं।

संस्कृत, अँगरेज़ी और फ़ारसी आदि भाषाओं के महाकवियों के काव्य की आज तक अनन्त टीकायें और आलोचनायें प्रका-

शित हो चुकी हैं। उनसे इन कवियों की कीर्ति कम नहीं हुई, प्रत्युत बढ़ती ही गई है। और, सच पूछिए तो इससे उनकी कीर्ति कम हो भी नहीं सकती। वह इतनी उज्ज्वल और व्यापक है कि आलोचनाओं से वह उज्ज्वलतर हो जाती है; उसकी उज्ज्वलता में बाधा नहीं आ सकती। यदि इस तरह का डर होता तो बड़े बड़े पण्डित और समालोचक क्यों ऐसा काम करते। इन कवियों के यश को लहराता हुआ अगाध सागर समझिए; और इनके निरंकुशत्व और दोष-समुदाय को केवल एक छोटा सा बूँद। उसके दिखलाने से इस रमणीय रत्नाकर का बिगड़ही क्या सकता है?

सूक्तौ शुचावेव परे कवीनां सद्यः प्रमादस्खलितं लभन्ते।
अधौतवस्त्रे चतुरं कथं वा विभाव्यते कज्जलबिन्दुपातः॥

काला धब्बा सफ़ेद ही वस्त्र पर देख पड़ता है, काले पर नहीं।

इस लेख में जिन बातों का उल्लेख किया जायगा उनमें से कितनी ही बातें, कालिदास के टीकाकारों और अलङ्कारशास्त्रियों ने अपने अपने ग्रन्थों में यथास्थान पहलेही से लिख दी हैं। किसी ने थोड़ा लिखा है किसी ने बहुत। अतएव इस लेख में दिखलाये गये निरंकुशत्वों और दोषों के सर्व्वांश का ज़िम्मेदार, अथवा अपराधी, पाठक अकेले हमीं को न समझें। यह अपराध और लोग बहुत पहले कर चुके हैं। हम तो सिर्फ़ उनके कथन को उचित शब्दों में आप के सामने रखते हैं। हाँ, जो नई नई उद्भावनायें हमने की हैं उनके लिए अकेले हमीं दोषी हैं। एतदर्थ हम आपसे न्याय की प्रार्थना नहीं करते। हम इस बात

का न्याय आपसे नहीं चाहते कि हमारा यह काम उचित है या अनुचित। हम सिर्फ़ आप से इस उचित या अनुचित काम के लिए क्षमा चाहते हैं। हम सिर्फ़ आपसे दया के प्रार्थी हैं। हमारी प्रार्थना स्वीकार करना या न करना सर्वथा आप ही के हाथ में है।

(१) उपमा की हीनता ।

उपमालङ्कार में और कोई कवि कालिदास की बराबरी नहीं कर सकता। कालिदास ने अपनी उपमाओं में उपमान और उपमेय का ऐसा अच्छा सादृश्य दिखलाया है जैसा और किसी की उपमाओं में नहीं पाया जाता। इनकी उपमाओं में लिङ्ग और वचन-सम्बन्धी भेद प्रायः कहीं नहीं देखा जाता। उपमा से इनकी वर्ण्य वस्तु इतने विशद भाव से हृदय में अङ्कित हो जाती है कि इनकी कविता का रसास्वादन कई गुणा अधिक आनन्ददायक हो उठता है। यह सब होने पर भी इनके काव्यों में कुछ उपमायें ऐसी देखी जाती हैं जो इनकी अन्यान्य उपमाओं के मुक़ाबले में बहुत हीन हैं। एक उदाहरण लीजिए :—

लवण नामक राक्षस के अत्याचारों से पीड़ित होकर देवताओं ने रामचन्द्र की शरण ली। उन्होंने प्रार्थना की कि इसे आप मारिए। रामचन्द्र ने यह काम शत्रुघ्न के सिपुर्द किया। इस विषय में कालिदास रघुवंश के पन्द्रहवें सर्ग में कहते हैं :—

यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः ।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥ ७ ॥

अर्थात्—अपवाद जैसे उत्सर्ग का व्यावर्तन करने में समर्थ है वैसेही रघुवंशियों में से अकेला एक भी शत्रु सन्तापकर्ता रघुवंशी वैरियों को रोकने या उन्हें बाधा पहुँचाने में समर्थ है। अब विचार यह है कि इस उपमा से रघुवंशियों की हीनता सूचित होती है या शक्तिमत्ता। विशेष-विधि को अपवाद कहते हैं और सामान्य-विधि को उत्सर्ग। लिखा है:—

भूयो दर्शनमुत्सर्गो बाधस्तस्यैकदेशगः।
अपवादः स विज्ञेयो मृग्यो व्याकरणादिषु॥

उत्सर्ग सामान्य-शास्त्र हुआ, अपवाद विशेष-शास्त्र। सामान्य-शास्त्र अधिक व्यापक होता है, विशेष-शास्त्र बहुत कम। पूर्वोक्त उपमा में रघुवंशी अपवादवत् अल्पव्यापक शक्तिवाले माने गये हैं और उनके शत्रु उत्सर्गवत् विशेषव्यापक शक्तिवाले। अतएव अपने शत्रुओं के मुक़ाबले में रघुवंशी हीन हुए। रघुवंशी अपने शत्रुओं की व्यापकता और शक्ति के लिए रुकावट भलेही पैदा करें, पर उनकी अपेक्षा वे कम शक्ति रखनेवाले और कम व्यापक ज़रूर हुए। एक बात और भी है। राजनीति यह है कि छोटे भी शत्रु को बड़ा समझना चाहिए और उसे निर्मूल करने के लिए कोई बात उठा न रखनी चाहिए। यहाँ पर उपमा के अनुसार रघुवंशियों का शत्रु लवणासुर अधिक शक्ति-सम्पन्न है। उसका विनाश तो रघुवंशी कर नहीं सकते, उसकी शक्ति को बढ़ने से रोक भर सकते हैं। अतएव रघुवंशियों के लिए यह और भी कलङ्क की बात हुई। इसी से यह कहने का साहस

होता है कि यह उपमा महाकवि कालिदास के अनुरूप नहीं। यह सच है कि शत्रुघ्न ने लवण को आगे चल कर मारा है। पर विचार इसका नहीं किया गया कि आगे क्या हुआ है। उपमा से जो ध्वनि निकलती है, या उसका जो अर्थ होता है, उसी का विचार किया गया है। और, तदनुसार इस उपमा में बहुत नहीं तो थोड़ी हीनता अवश्य पाई जाती है।

कोई वैयाकरण शायद कह बैठे:—"सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्"। सही है। सामान्य-शास्त्र से विशेष-शास्त्र बलवान हो सकता है, पर एक निश्चित सीमा ही तक। सामान्य-शास्त्र को यदि आप चक्रवर्ती राजा मानें तो विशेष-शास्त्र को माण्डलिक मानना पड़ेगा। माण्डलिक राजा स्वतंत्र हो सकता है और अपने राज्य की सीमा के भीतर अधिक बलवान् भी हो सकता है, पर चक्रवर्ती राजा की बराबरी नहीं कर सकता। अँगरेज़ इस देश के चक्रवर्ती राजा हैं और नेपाल-नरेश इस देश के अन्तर्गत एक माण्डलिक राजा। नेपालवाले अँगरेज़ी क़ायदे-क़ानून की पाबन्दी करने के लिए मजबूर नहीं। वे अपने राज्य की सीमा के भीतर स्वतंत्र हैं; जो चाहे कर सकते हैं। परन्तु बल, प्रभुता और शक्ति में वे अँगरेज़ों की समता नहीं कर सकते।

(२) उद्वेगजनक उक्ति।

श्रीयुत विष्णु कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर ने बड़े गर्व के साथ लिखा है कि कालिदास की कविता में ज़रा भी ग्राम्यता या अश्लीलता नहीं। इस दोष से उनकी कविता सर्वथा बची हुई

है । इसे हम भी मानते हैं । यद्यपि आलङ्कारिकों ने अमङ्गल, व्रीड़ा और जुगुप्सा-व्यञ्जक उक्तियाँ इनकी भी कविता में ढूँढ़ निकाली हैं, तथापि वे ग्राम्यता दोष की ठीक सीमा के भीतर नहीं आतीं । हाँ, उद्वेग पैदा करनेवाले स्थल इनके भी काव्यों में कहीं कहीं पाये जाते हैं । ऐसे स्थल बहुत खटकते हैं । कवियों के गुरुवर के काव्यों में ये न होते तभी अच्छा था । रघुवंश के बारहवें सर्ग का बाईसवाँ श्लोक पढ़िए । एक पेड़ के नीचे सीता की गोद में (सिर रखकर) थके हुए रामचन्द्र सो रहे हैं । इसी समय :—

ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः ।
प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन् ॥

इन्द्र के बेटे कौवे ने उनके स्तन-द्वय को नाखनों से विदीर्ण कर दिया । वहाँ पर रामचन्द्र के उपभोग के जो चिह्न थे उनमें मानों उसने दोष दिखलाये । मतलब यह कि तुम्हें नखक्षत करना नहीं आता; देखिए, इस तरह करना चाहिए । यह इस श्लोक का अर्थ है । पाठक कृपा करके बतलावें, यह उक्ति उन्हें कहाँ तक पसन्द है । चित्त में कुछ उद्वेग पैदा करती है या नहीं ? रामचन्द्र को कालिदास विष्णु का अवतार मानते थे । उन्होंने रघुवंश के तेरहवें सर्ग के आरंभही में लिखा है:—

रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां
रामाभिधानो हरिरित्युवाच ।

इन्हीं राम-नामधारी हरि की जाया के विषय में आपने ऊपर

की उक्ति कही है। भगवान् विष्णु के किये हुए नखर-क्षतों के वर्णन, और भगवती सीता के स्तनद्वय का कौवे के नाखूनों से विदीर्ण होने के उल्लेख से काव्यानन्द की वृद्धि तो होती नहीं, मन में एक प्रकार की ग्लानि सी अवश्य उत्पन्न होती है। अच्छा, इस बात को जाने दीजिए। मान लीजिए कि कालिदास ने रामचन्द्र को हरि नहीं समझा। अतएव उनके विषय में कही गई पूर्वोक्त उक्ति अनुचित नहीं मानी जा सकती। ख़ैर, न मानिए। आप इतना तो मानिएगा या नहीं कि रामचन्द्र उत्तम नायक थे। फिर क्या वे इतने मूर्ख थे कि नख-क्षत करने की भी अक़्ल उनमें न थी? इस काम को क्या कौवा उनसे अच्छा कर सकता था? एक बात का और भी तो विचार करना था। रामचन्द्र को अयोध्या छोड़े बहुत दिन हो गये थे। भरत के लौट जाने पर जिस समय वे चित्रकूट में थे उस समय की यह घटना है। वन में रामचन्द्र तापस के वेश में थे। लक्ष्मण बराबर उन के साथ रहते थे। इस बात का क्या प्रमाण कि वे ब्रह्मचर्य-धारणपूर्वक अपना काल-यापन न करते थे? फिर ये "उपभोग-चिह्न" कहाँ से आये? क्या ऐसे चिह्न महीनों बने रहते हैं? अच्छा, इस कोटिक्रम को भी जाने दीजिए। क्या सीताजी नङ्गी रहती थीं? क्या दुपट्टा, कञ्चुकी, मृगचर्म आदि वे कोई चीज़ न पहनती थीं? सुहेली, ज़ूलू, बुशम्यन, रेड इण्डियन आदि असभ्य जङ्गली लोगों की स्त्रियों की तरह केवल कटिप्रदेश को पत्तों या छाल से तो वे ढके रहती न थीं?

फिर कौवे ने उस अङ्ग-विशेष को विदीर्ण कैसे किया ? याद रखिए, कलिदास ने "स्तनौ" लिख कर द्विवचन का प्रयोग किया है । आपको एकवचन से सन्तोष नहीं । द्विवचन लिखकर दोनों स्तनों को एक ही साथ विदीर्ण कराया ! हमारी मन्द बुद्धि के अनुसार, यह उक्ति महाकवि कालिदास के काव्य की शोभा को बढ़ानेवाली नहीं, किन्तु घटानेवाली है ।

रघुवंश में इस घटना के उल्लेख की कोई वैसी आवश्यकता न थी । यदि मान लिया जाय कि थी ही, तो किसी और अवयव का नाम देने से क्या काम न चलता ? शायद न चलता । क्योंकि वैसा करने से उस अपूर्व उत्प्रेक्षा के लिए जगह न रहती । इस विषय में कालिदास की अपेक्षा तुलसीदास ने विशेष विवेक-बुद्धि से काम लिया है । उन्होंने लिखा है:—

सीता-चरन चोंच हति भागा ।
महा-मन्द-मति कारन कागा ।।

कौन न स्वीकार करेगा कि पैरों पर कौवे की चोंच या नखों का लगना अधिक संभवनीय है ?

वाल्मीकि-रामायण के अयोध्याकाण्ड में यह घटना और ही तरह से वर्णन की गई है । वहां पर लिखा है कि खाने से जो मांस बच गया था वह धूप में सूख रहा था । सीताजी कौवों से उसकी रक्षा कर रही थीं । परन्तु, बार बार रोकने पर भी वे न मानते थे । यहाँ तक कि तंग किये जाने पर उन्होंने अपने

पंखों, नखों और चोंचों से सीता को चोट पहुँचाई। वाल्मीकि ने किसी अङ्ग-विशेष का नाम नहीं लिखा। उनका वर्णन सर्वथा स्वाभाविक है। मांसाशी कौवों के द्वारा सीता को कष्ट पहुँचना और रामचन्द्र का उन कौवों पर बाण चलाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं। वाल्मीकि ने लिखा है:—

शिष्टं मांसं निकृष्टं यच्छोषणायावकल्पितम्।
तद्रामवचनात्सीता काकेभ्यः पर्यरक्षत॥

❋ ❋ ❋ ❋

इतश्चेतश्च तां काको वारयन्तीं पुनः पुनः।
पक्षतुण्डनखाग्रैश्च कोपयामास कोपनाम्॥

अतएव कालिदास का पूर्वोक्त पद्य वाल्मीकि-रामायण का आधार नहीं रखता। उन्होंने किसी और पुराण के आधार पर वह उक्ति कही होगी। परन्तु यदि किसी पुराण में वैसा हो भी, तो भी उसका उल्लेख समुचित नहीं माना जा सकता। पुराणों की उद्वेगजनक घटनाओं की नक़ल काव्यों और नाटकों में क्यों की जाय? कालिदास ने पौराणिक घटनाओं में मनमाना फेर-फार करके उन्हें अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है। यहाँ भी उन्हें वैसाही करना था।

३—अनौचित्य-दर्शक उक्ति।

[क]

कुमारसम्भव के आठवें सर्ग में कालिदास का एक श्लोक है। उसमें आपने लिखा है कि शङ्कर को पार्वती जितना

चाहती हैं, शङ्कर भी पार्वती को उतना ही चाहते हैं। दोनों के प्रेम को परस्पर का आश्रय है। कोई किसी का कम प्यार नहीं करता। वह श्लोक यह है:—

तं यथात्मसदृशं वरं वधूरन्वरज्यत वरस्तथैव ताम्।
सागरादनपगा हि जान्हवी सोऽपि तन्मुखरसैकवृत्तिभाक्॥

अर्थ:—अपने सदृश वर, अर्थात् शिव, पर-वधू पार्वती जिस तरह अनुरागवती थी वर, अर्थात् शिव, भी उसी तरह वधू पार्वती पर अनुरागवान् थे। समुद्र में पहुँच कर गंगा फिर पीछे को नहीं लौटतीं और समुद्र भी गंगा के मुखरस (पान करने) में अपनी एकमात्र वृत्ति को प्रवर्तित कर देता है। अर्थात् और किसी नदी के मुखरस-पान में वह प्रवृत्त नहीं होता; अकेली गंगा के मुख-रस-पान में वह एकवृत्ति हो जाता है। कालिदास की इस अनोखी उपमा से अनौचित्य की झलक आती है। जान्हवी का समुद्र से पीछे न हटना—उसी में लीन हो जाना—बहुत ठीक है। परन्तु समुद्र का उसमें एकवृत्ति होना कैसा? जिस समुद्र में सैकड़ों—हज़ारों नदियाँ गिरती हैं और जो उन सबके मुखरस के पान में अपनी वृत्ति को प्रवृत्त रखता है, किसी को निराश नहीं लौटाता, उसकी उपमा शङ्कर से देना—उसे शङ्कर का उपमान मानना—मानो छिपे छिपे शङ्कर पर बहुपत्नी-प्रेम का आरोप करना है; और साथ ही साथ समुद्र की दिल्लगी भी करना है। दिल्लगी क्या उसे शरमिन्दा करना है। यह उपमा शङ्कर और पार्वती दोनों के चरित्र

में न्यूनता लानेवाली है। कविता के मर्म्मज्ञ रसिक जन इसके प्रमाण हैं। यदि वे ऐसा न समझें तो न सही; हम अपनी इस टिप्पणी को वापस ले लेंगे।

कुछ विद्वानों की राय है कि कुमारसम्भव के पहले सात सर्ग ही कालिदास के रचे हुए हैं। बाद के सब सर्ग किसी और के हैं। यह हो सकता है। ऐसा होने से पूर्वोक्त दोष कालिदास पर नहीं लगाया जा सकता। अच्छा, इसे जाने दीजिए। कालिदास की एक और उक्ति सुनिए।

[ख]

विदर्भराज ने अपनी बहन इन्दुमती का स्वयंवर किया। देश-देशान्तर के राजा उसे पाने की इच्छा से कुण्डिनपुर आये। पर, उस कन्यारत्न ने सबका अनादर करके अज कुमार के गले में जयमाल पहनाया। यथाविधि अज का विवाह इन्दुमती से हुआ। विवाहविधि समाप्त होने पर अज अपनी नव-परिणीता वधू को लेकर अयोध्या को लौटा। उसे पहुँचाने के लिए कुण्डिनेश ने भी प्रस्थान किया। तीन रात उसके साथ मार्ग में रह कर कुण्डिन-नरेश अपनी राजधानी को वापस आये। स्वयंवर में निराश हुए राजाओं को अज की इन्दुमती-प्राप्ति असह्य हुई। ज्योंही विदर्भराज ने अज का साथ छोड़ा—ज्योंही अज कुमार अकेला रह गया—सब राजाओं ने मिल कर उस पर आक्रमण किया और उससे इन्दुमती छीन लेना चाहा।

घोर युद्ध हुआ। युद्ध के मैदान में अज ने अपने वैरी राजवर्ग को सम्मोहनास्त्र से सुला दिया। उनके इस तरह मोहित हो जाने पर:—

ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः।

रघु०, सर्ग ७, श्लोक ६३

"प्रिया ने आस्वादन किया है रस जिस अधरोष्ठ का उस पर रख कर अज-कुमार ने (विजयसूचक) शंख बजाया"। अब, विचार इस बात का है कि इस अधरोष्ठपान का प्रसङ्ग कहाँ तक युक्तिसङ्गत और सम्भव माना जा सकता है। विवाहोत्तर अज अपनी ससुराल में दो चार दिन भी नहीं रहा। या, यों कहिए कि कालिदास ने उसके वहाँ रहने का उल्लेख नहीं किया। युद्ध होने के पहले, मार्ग में भी, उसने तीन ही रातें बिताई थीं। और, शास्त्र की आज्ञा है:—

ऊर्ध्वं त्रिरात्रमथवा द्वादशाहं भवेद्व्रती।

बारह दिन न सही तो तीन रात पर्यन्त तो अज को ज़रूर ही ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिए। अतएव उसके अधरोष्ठ के लिए "प्रियोपात्तरस" विशेषण कैसे सार्थक हो सकता है? अब, यदि, यह मान लेते हैं कि कुण्डिनपुर में कुछ दिन रहने के बाद अज ने अयोध्या के लिए प्रस्थान किया तो भी कठिनता हल नहीं होती। क्योंकि, अज के द्वारा प्रिया के अधरोष्ठ-रस का पान समझ में आ सकता है। पर प्रिया के द्वारा अज के अधरोष्ठ-रस का पान अस्वाभाविक सा है। नव-विवाहिता इन्दुमती में इतना शीघ्र

इतनी प्रौढ़ता और प्रगल्भता नहीं आ सकती। यदि कोई यह एतराज़ पेश करे कि यह बात असंभव नहीं; और स्त्रियों की अपेक्षा इन्दुमती शायद अधिक प्रगल्भ रही हो, तो इसका उत्तर यह है कि खुद कालिदास उसे लज्जावती, अतएव अप्रगल्भा, बतलाते हैं। इसी सातवें सर्ग के पचीसवें श्लोक में वे कह आये हैं :—

चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ

पाठक कह सकते हैं कि यह विवाह के समय की उक्ति है। विवाहोत्तर उसकी सलज्जता कम हो गई होगी। यह बात भी ठीक नहीं। युद्ध समाप्त होने पर, ऊपर, जो तिरसठवें श्लोक का पूर्वार्द्ध दिया गया है उसके छः ही श्लोक आगे, अर्थात् उनसठवें श्लोक के पूर्वार्द्ध में, महाकवि ने फिर भी इन्दुमती को लज्जावती बताया है। देखिए :—

दृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षाद्वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत्।

इसका मतलब है—अपने प्रिय पति अज को जीत से प्रसन्न होने पर भी, लज्जा से जीती गई इन्दुमती, अज का अभिनन्दन साक्षात् न कर सकी। अतएव इस काम को उसने अपनी सखियों की वाणी से कराया—उसकी सखियों ने अज को उसकी जीत पर बधाई दी। अतएव इन्दुमती की प्रगल्भता किसी तरह साबित नहीं हो सकती।

हाँ, एक बात लिखने को रह गई। पाठक यह कह सकते हैं कि—"प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे" का अर्थ राजा लक्ष्मणसिंह ने

जैसा किया है वैसा क्यों नहीं करते ? उन्होंने तो लिखा है :— "प्यारी का रस लिये हुए होठों पर रख कर कुमार ने शंख फूँका ।" इस पर यह निवेदन है कि ऐसा अर्थ हो नहीं सकता । ऐसा अर्थ तब निकलता जब "उपात्तप्रियारसेऽधरोष्ठे" की तरह की पद-रचना होती । हेमाद्रि, चरित्रवर्धन और मल्लिनाथ आदि सभी टीकाकारों ने पूर्वोक्त पदों का वही अर्थ लिखा है जो हमने ऊपर लिखा है । और टीकाकारों की अपेक्षा मल्लिनाथ की टीका अधिक सुलभ है । उसे पाठक स्वयं देख सकते हैं । उसमें लिखा है :—

कुमारः प्रिययेन्दुमत्योपात्तरस आस्वादितमाधुर्य्ये (अतिश्लाघ्य इतिभावः) अधरोष्ठे जलजं शंखं निवेश्य दध्मौ ।

इन बेचारों से विवादास्पद पदों का जब और किसी तरह समर्थन न हो सका तब लिख दिया— "अतिश्लाघ्ये इति भावः" । "उपात्तरसेऽधरोष्ठे" का भाव अति-श्लाघ्य लिख कर इन्होंने छुट्टी पाई । परन्तु इनकी सचाई की तारीफ़ करना चाहिए । पूर्वोक्त पदों का ठीक ठीक जो अर्थ होता है वही इन्होंने लिखा । हाँ, वह अर्थ इनके मन में जँचा ज़रूर नहीं । इससे इनको उनका मतलब—उनका आशय—उनका भाव "अतिश्लाघ्य" बतलाना पड़ा । यदि कोई किसी के होंठ पर ज़बरदस्ती अंगूर रख कर हटा ले और फिर यह कहने लगे कि, देखो, इसने अंगूर के रस का—उसके माधुर्य्य का—आस्वादन कर लिया तो, विचार करने का स्थल है, उसकी बात कहाँ तक

सार्थक मानी जा सकेगी। यदि ऐसा कथन ठीक माना जा सके तो राजा लक्ष्मणसिंह का किया हुआ अर्थ भी ठीक माना जा सकेगा। कालिदास का भी आशय यदि ऐसा ही हो तो वे जानें और उनकी रसिकता। हमारी क्षुद्र बुद्धि तो काम नहीं करती।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि इन्दुमती से पहले अज ने और किसी कन्या से विवाह नहीं किया था। अर्थात् उसके और कोई "प्रिया" न थी। और, इन्दुमती के अतिरिक्त किसी अविवाहिता प्रिया का मानना रघुवंशियों के चरित्र पर धब्बा लगाना है।

(४)—रस-सम्बन्धी अनौचित्य।

शङ्कर ने अखण्ड समाधि लगाई है। संसार से सारा लगाव उन्होंने छोड़ दिया है। ऐसे समय में देवता चाहते हैं कि वे पार्व्वती से विवाह कर लें। वे समाधिस्थ शङ्कर को जगाकर पार्वती के सम्बन्ध में उनके हृदय में अभिलाष उत्पन्न करना चाहते हैं। यह काम वे काम के सिपुर्द करते हैं। काम शङ्कर के आश्रम में आता है और स्थावर-जङ्गम सभी के हृदय में कामवासना उत्पन्न करने के लिए अकाल ही में वसन्त ऋतु का आविर्भाव करता है। उसके प्रभाव से प्राणिमात्र पागल हो उठते हैं और काम-चेष्टायें करने लगते हैं। यह सारा झंझट पार्वती में परमेश्वर के अभिलाष-शृङ्गार को उद्दीप्त करने के लिए है। इसी उद्दीपन-विभावोचित वर्णन में कालिदास एक जगह पर कहते हैं :—

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं
दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥
कुमारसम्भव, सर्ग ३, श्लोक २८

अर्थात्—कनेर का रंग तो ज़रूर अच्छा है; परन्तु उसमें सुगन्धि नहीं, इससे मन को दुःख होता है—चित्त प्रसन्न नहीं होता। प्रायः यह देखा गया है कि ब्रह्मा सारे गुण किसी एक पदार्थ में इकट्ठे नहीं उत्पन्न करता। इस वर्णन से कोई भी उद्दीपक बात नहीं निकलती। यह उक्ति ऐसी नहीं कि शङ्कर के अभिलाष-शृङ्गार का उद्दीपन करनेवाली हो। कनेर का रंग अच्छा होता है। होता होगा। उसमें सुवास का न होना हृदय में दुःख पैदा करता है। करे। ब्रह्मा की आदत है कि जहाँ गुण होते हैं वहाँ एक न एक दोष भी उत्पन्न किये बिना वह नहीं रहता। न रहे। इससे क्या? आप फूलों के गुणदोष दिखाने तो चले नहीं, और न ब्रह्मा की आदत ही का वर्णन करने चले। आप तो ऐसी बातें कहने चले हैं जिनसे शङ्कर की पार्वती-विषयक कामना उद्दीप्त हो उठे। सो वैसी कोई बात पूर्वोक्त पद्य में देख पड़ती नहीं। इसी श्लोक के आगे पीछे आपने जो पुँस्कोकिलों का कूजन, भ्रमरों और भ्रमरियों का एक ही पुष्पपात्र में मधुपान, पलाश-कलिकाओं के मिस से वनस्थली के नखक्षत आदि का

वर्णन किया है वह सब आपके अभीष्ट रस का उद्दीपन करता है। परन्तु इस श्लोक की उक्ति वैसी नहीं। इसीसे कहना पड़ता है कि इसमें शृङ्गार-रस-परिपोषक औचित्य नहीं।

५—व्याकरण-सम्बन्धी अनौचित्य।

(क)

कहते सङ्कोच होता है—सङ्कोच क्यों, हम जैसे निर्बल, अल्पज्ञ और असहाय मनुष्य को डर लगता है—कि कालिदास ने अपने काव्यों में पाणिनीय व्याकरण के नियमों का अनेक बार उल्लंघन किया है। एक, दो, तीन बार नहीं; दस-बीस बार उन्होंने इस विषय में निरङ्कुशता दिखाई है। सम्भव है, जिन प्रयोगों की गिनती निरङ्कुशता में की जाती है वे ऐन्द्र और चान्द्रमस आदि व्याकरणों के अनुसार साधु प्रयोगों में गिने जा सकें। परन्तु, जब तक इन अन्य व्याकरणों के विद्वान् उन प्रयोगों को साधु न सिद्ध करें तब तक उनको कवि के स्वातन्त्र्य का विजृम्भण मानने के सिवा और कोई गति नहीं। ऐसे प्रयोगों के हम अधिक नहीं, केवल पाँच छः उदाहरण देंगे। अधिक उदाहरण देने की चेष्टा न करेंगे। रघुवंश के पहले सर्ग का अन्तिम श्लोक है:—

> निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः।
> तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय॥

इसमें 'प्रयतपरिग्रहद्वितीयः'—इस पद को देखिए। यह 'सः' अर्थात् राजा दिलीप का विशेषण है। वशिष्ठ के आश्रम

में राजा ने रात काटी । वह अकेला न था । उसके साथ उसकी रानी थी । इस बात को कवि ने 'प्रयतपरिग्रहद्वितीयः' कह कर सूचित किया है । इसका मतलब है:—अपनी ही इच्छा से नियम की रक्षा करने में तत्पर रानी है द्वितीय (अर्थात् सखी) जिसकी । अर्थात् एक वह था, दूसरी रानी थी । रानी से वह द्वितीय था । कहने का यह बड़ा ही अच्छा तर्ज़ है । इस पूर्वोक्त पद में बहुव्रीहि समास है । यही समास कवि को इष्ट भी है । क्योंकि, यही समास मानने से कवि का अभीष्ट अर्थ निकलता है । तत्पुरुष समास मानने से अर्थ में लाघव आ जाता है । इसी तरह का एक समास कवि ने रघुवंश के दूसरे सर्ग के चौबीसवें श्लोक में भी रक्खा है :—

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।
क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥

यहां भी देखिए—'गृहिणीसहायः' बहुव्रीहि ही समास है । तदनुसार इसका अर्थ होता है—गृहिणी है सहाय [सहायक], अर्थात् सखी, जिस राजा की । इस तरह के प्रयोग महाकवियों को बहुत प्रिय मालूम होते हैं । श्रीहर्ष ने नैषधचरित्र में लिखा है :—

रुषा निषिद्धालिजनां यदैनां छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार ।
तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गीं स कीरवन्मानुषवागवादीत् ॥

इस श्लोक में—'छायाद्वितीयां' बिलकुल वैसा ही प्रयोग है जैसा कि कालिदास का—'प्रयतपरिग्रहद्वितीयः' और 'गृहिणी-

सहायः' है । अब, देखिए, इन्हीं प्रयोगों के कर्ता महाकवि ने किस तरह उलटी गङ्गा बहाई है । रघुवंश के पहले सर्ग का अड़तालीसवां श्लोक है :—

स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः ।
सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः ॥

भावार्थ :—जिसके सदृश यश प्राप्त करना और लोगों के लिए कठिन काम है, जिसके रथ के घोड़े थक गये हैं, और जो अपनी महिषी—प्रधान रानी—का सखा, अर्थात् मित्र या साथी है, वह राजा दिलीप, सायङ्काल, उस संयमशील महर्षि के आश्रम में पहुँचा । इस पद्य में 'महिषीसखः' पद ठीक उसी अर्थ में व्यवहृत हुआ है जिस अर्थ में कि 'प्रयतपरिग्रहद्वितीयः' और 'गृहिणीसहायः' हुआ है ।

कवि के कहने का मतलब केवल इतना ही है कि राजा अकेला न था; उसके साथ उसकी रानी भी थी । परन्तु पाणिनि की आज्ञा है कि ऐसा अर्थ इस पद से न निकाला जाय । क्यों ? व्याकरणाचार्य्य ने नियम कर दिया है :—"राजाहः सखिभ्यष्टच्" । बहुव्रीहि करने से 'टच्' प्रत्यय यहाँ नहीं हो सकता । और 'टच्' है यहां ज़रूर । उसके बिना 'महिषीसखः'—इस पद की सिद्धि कैसे होगी ? 'सखि' शब्द का 'सखः' कैसे होगा ? अतएव अनन्यगतिक होकर यहाँ षष्ठी-तत्पुरुष समास मानना पड़ता है, जिसका अर्थ होता है—महिषी का सखा, महिषी का साथी, महिषी का मित्र । इस समास के कारण अर्थ में बड़ी

हीनता आ जाती है। राजा दिलीप अपनी रानी का सखा या मित्र था, इसके कहने की यहाँ पर कोई ज़रूरत नहीं। ज़रूरत इतना ही कहने की है कि राजा के साथ उसकी रानी भी थी; रानी को साथ लिये हुए वह वशिष्ठ के आश्रम में गया था। इस काम में उसका और कोई सहायक न था; थी केवल उसकी रानी। इसी अर्थ को प्रधान मान कर मल्लिनाथ को—"महिष्याः सखा महिषीसखः" इस तरह समास-विग्रह करके "सहायान्तर-निरपेक्ष इति भावः"—यह लिखना पड़ा। मतलब यह कि कालिदास ने कहना चाहा कुछ, पर पाणिनि के नियम का ख़याल न रखने से उनकी उक्ति से निकला कुछ और ही अर्थ।

ठीक इसी तरह का अनौचित्य कालिदास की एक और उक्ति में भी पाया जाता है। रघुवंश के पाँचवें सर्ग का सत्ताईसवाँ श्लोक है:—

वसिष्ठमन्त्रोक्षणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य॥

भावार्थ:—वशिष्ठ के मन्त्रपूत जलाभिषेक के प्रभाव से, वायु के साथी बलाहक की गति की तरह, उस राजा रघु के रथ की गति समुद्र में, आकाश में, और पर्वतों के ऊपर, कहीं भी, रोकी नहीं जा सकी। यहाँ भी 'मरुत्सखस्य' में षष्ठी-तत्पुरुष समास करना पड़ता है। अतएव उसका अर्थ होता है वायु का सखा। यह पद बलाहक का विशेषण है; और बलाहक का सखा या सहायक पवन है, न कि पवन का सखा या सहायक

बलाहक। पवन की सहायता से बलाहकों की गति अधिक व्यापक हो जाती है, यह सिद्ध बात है। पर मेघ किस तरह पवन का सखा या सहायक हो सकता है, यह बात समझ में नहीं आती। यहाँ भी कालिदास का मतलब बहुव्रीहि ही समास से है, तत्पुरुष समास से नहीं। बहुव्रीहि करने से अर्थ निकलता है—मरुत् सखा यस्य, तस्य बलाहकस्य गतिरिव। अर्थात् जिस बलाहक का सखा या सहायक पवन है उसकी गति की तरह। यही अर्थ अपेक्षित भी है। पर पाणिनि ऐसा अर्थ होने नहीं देते। उनकी आज्ञा तत्पुरुष समास करने की है। वे कहते हैं कि 'सखि' शब्द को 'सखा' न बनाओ, और जो बनाओ तो बहुव्रीहि-समास न करो। 'सखि' का 'सखा' कालिदास ने कर दिया। अतएव षष्ठी-तत्पुरुष समास करना पड़ा। उसका अर्थ हुआ—पवन के सखा या साथी बलाहक की गति की तरह। यह बड़ा ही गौण अर्थ है। इसी से मल्लिनाथ को कहना पड़ा :—"मरुतः सखेति तत्पुरुषो बहुव्रीहौ समासान्ताभावात्। ततो वायुसहायस्येति लभ्यते"। हेमाद्रि ने तो साफ़ साफ़ कह दिया कि यह प्रयोग चिन्त्य है। आप अपनी टीका में लिखते हैं :—

"मेघेन गमनार्थे मरुदपेक्षितत्वान्मरुत्सखा यस्येति समासोऽभिमतो न स्यात्। 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इति टच् न स्यात्। तस्य तत्पुरुषाभिधानात्। ततश्चिन्त्यमिदम्"।

टीकाकार चारित्रवर्धन ने भी अपनी व्याख्या में इसी प्रकार

का एक नोट दिया है। इस कथन से यह निष्कर्ष निकला कि या ते कालिदास ने किसी और व्याकरण के अनुसार ये प्रयोग किये, या उन्होंने जान बूझ कर निरङ्कुशता से काम लिया। भूल से भी ऐसा हो सकता है।

[ख]

रघुवंश के नवें सर्ग का छब्बीसवां श्लोक है :—

कुसुमजन्म तते नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्॥

इस श्लोक के दूसरे चरण में 'तदनु' सामासिक शब्द है। पर, इस तरह का समास पाणिनीय व्याकरण के मत से निषिद्ध है। अतएव रघुवंश के टीकाकार हेमाद्रि कहते हैं :—

'पूरणगुण'—इति समासनिषेधात्तदनुशब्दे समासो महाकविप्रयोगादेव साधुः।

कालिदास जैसे महाकवि ने ऐसा प्रयोग कर दिया; इससे यह असाधु भी प्रयोग साधु हो गया! क्यों न हो। एक ही दफ़े कुछ थोड़ेही ऐसा प्रयोग इस महाकवि ने किया है। इसी रघुवंश में एक और जगह भी आपने लिखा है :—

विश्वं तदनु बिभ्रते..........

और, मेघदूत में भी आपने इस प्रयोग को याद किया है :—

सन्देशं मे तदनु जलद...........

इत्यादि। अच्छा, अब एक और प्रयोग की साधुता देखिए।

[ग]

रघुवंश के आठवें सर्ग का छियालीसवाँ पद्य यह है :—

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया॥

इसमें 'जीवितापहा' पद की साधुता अथवा असाधुता के विषय में मल्लिनाथ तो चुप हैं। पर हेमाद्रि और चारित्रवर्द्धन ने आक्षेप किया है। प्रथम का कहना है :—

इत्ययं शब्दः चिन्त्यः। 'अपे क्लेशतमसोः' इति डस्य विधानात्। 'क्लेशरागतमोदर्पदुःखरोगज्वरादिषु। डः कर्मस्वपहन्तेः स्याद् ध्यातः पापापहः शिवः' इति गणदर्पणोक्तेर्घटते।

'जीवितापहा'—में अप-उपसर्ग-पूर्वक हन् धातु से ड-प्रत्यय किया गया है। पर, यह प्रत्यय पाणिनि की आज्ञा के अनुसार क्लेश, राग, तम आदि शब्दों के योग में होता है; 'जीवित' शब्द के योग में नहीं। इसी से हेमाद्रि इस प्रयोग को चिन्त्य समझते हैं। चारित्रवर्द्धन भी इनकी हाँ में हाँ मिलाते हैं; पर यह भी कहते हैं कि किसी किसी की राय में और शब्दों के योग में भी यह प्रत्यय होता है। यह आप कहते तो हैं, परन्तु और किसी कवि या महाकवि के ऐसे प्रयोग का एक भी उदाहरण आप नहीं देते। कालिदास ने और स्थलों पर इस प्रत्यय का ठीक प्रयोग किया है। रघुवंश के सत्रहवें सर्ग के इकसठवें श्लोक में है :—

परकर्म्मापहः सोऽभूदुद्यतः स्वेषु कर्म्मसु।

और उन्नीसवें सर्ग के उनतालीसवें श्लोक में है:—

अन्वभुंक्तसुरतक्लमापहाम्।

पर, ऊपर के श्लोक में, आपने अपने टीकाकारों को, पूर्वोक्त प्रयोग को 'चिन्त्य' समझने का मौक़ा दिया है। अब इसे चाहे कोई निरङ्कुशता समझे, चाहे कुछ और।

[घ]

युष्मद्-शब्द की प्रथमा के द्विवचन का रूप होता है—युवां। उसका अर्थ है—तुम दोनों। परन्तु कलिदास ने रघुवंश के पन्द्रहवें सर्ग में युवां का 'वां' कर दिया है। वां—भी होता है; पर द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी के द्विवचन में। प्रथमा-विभक्ति में 'वां' नहीं होता। वह श्लोक यह है :—

गेये केन विनीतौ वां कस्य चेयं कृतिः कवेः।
इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिमशंसताम्॥ श्लोक ६९

अर्थ—किसने तुम दोनों को गाना सिखलाया है और यह किस कवि की कृति है? इस प्रकार राजा रामचन्द्र से पूछे जाने पर उन दोनों ने वाल्मीकि का नाम बतलाया। लव-कुश ने रामचन्द्र को गा कर रामायण सुनाई। सुन कर वे बहुत प्रसन्न हुए और पूर्वोक्त बहुतही स्वाभाविक प्रश्न उन्होंने किये। टीकाकार लोग जब इस श्लोक का अर्थ समझाने लगे तब बड़ी मुश्किल में पड़े। वे 'वां' की सङ्गति कैसे लगावें? किसी ने कहा, यह पाठ ठीक नहीं। ठीक पाठ है :—गेये को नु विनेता वां। किसी ने कहा, नहीं, ठीक पाठ है :—गेये कोऽत्र विनेता वां।

तीसरे बोले, नहीं जी, शुद्ध पाठ यह है :—गये का नु विनी-तिर्वा'। चौथे महाशय बोले :—युवां—का अर्थ देनेवाला 'वां' यह अव्यय है! इसके कहने की आवश्यकता नहीं कि इन पाठान्तरों से 'वां' की मुश्किल हल हो जाती है। इसी लिए इन पाठान्तरों की रचना की गई है। किसी किसी ने तो 'वां' को षष्ठी समझ कर विलक्षण विलक्षण प्रकार से इस श्लोक के पूर्वार्द्ध का अर्थ किया है। उन सबके उल्लेख की यहाँ पर आवश्यकता नहीं। क्योंकि, संस्कृत न जाननेवाले पाठक इन लोगों के कोटिक्रम का ठीक ठीक मर्म्म न समझ सकेंगे! परन्तु, पूना के पण्डित गोपाल रघुनाथ नन्दर्गीकर ने रघुवंश के अनेक संस्करणों का मिलान करके जो देखा तो अधिकांश पुस्तकों में उन्हें वही पाठ मिला जो ऊपर हमने दिया है। वे उसी को कालिदास का मूल पाठ समझते हैं। इस बात को उन्होंने अपने सम्पादन किये गये रघुवंश में स्पष्टतापूर्वक लिखा है और इसे सप्रमाण सिद्ध करने की चेष्टा भी उन्होंने की है। प्रसिद्ध वैयाकरण नागोजी भट्ट की आज्ञा है—"नृसिंहाश्रम ते ख्यातिरित्यादै, गये केन विनीतै वामित्यादाविव विभक्त्यन्त-प्रतिरूपकनिपाताङ्गीकारणादोषः"। यह वाक्य उन्होंने अपने लघुशब्देन्दुशेखर में लिखा है। ख़ैर। पाठान्तरों के पक्षपाती इन टीकाकारों और वैयाकरणों से शास्त्रार्थ करने की हम में शक्ति नहीं। अतएव, इस विषय में हम सिर्फ़ इतनाही कहेंगे कि कालिदास के 'वां'—पद-प्रयोग में कोई कठिनाई की बात

अवश्य इन लोगों ने देखी । यदि ऐसा न होता तो इतनी टीका-टिप्पणियां और प्रमाण-प्रमेयों की ज़रूरत न पड़ती ।

[ङ]

संस्कृत में एक शब्द 'त्र्यम्बक' है । वह 'त्रि' और 'अम्बक' इन दो शब्दों के सन्धि-योग से बना है । 'अम्बक' का अर्थ नेत्र भी है और पिता भी । 'त्र्यम्बक' शब्द वेद में भी आया है । ऋग्वेद का एक मंत्र है :—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् ७ । ५९ । १२

सायण ने अपने वेद-भाष्य में 'त्र्यम्बक' का अर्थ किया है—त्रयाणां ब्रह्मविष्णुरुद्राणामम्बकः पिता । अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन तीनों के पिता का नाम त्र्यम्बक है । यह तो वैदिक अर्थ हुआ । लौकिक अर्थ इस शब्द का है—त्रीणि चन्द्रसूर्य्याग्निरूपाणि अम्बकानि नेत्राणि यस्य । अर्थात् चन्द्रमा, सूर्य्य और अग्नि रूपी तीन आँखें जिसके हों उसे त्र्यम्बक कहते हैं । त्र्यम्बक से मतलब यहाँ शिव से है । कालिदास इस पिछले अर्थ को अच्छी तरह जानते थे; और इस शब्द का शुद्ध रूप क्या है, यह भी जानते थे । प्रमाण :—

(१)..

जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥

रघु०, स० २, श्लो० ४२

(२) हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः ।

....

रघु०, स० ३, श्लोक० ४९

•(३)..
प्रवर्तयामास किलानुसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ॥
रघु०, स० १३, श्लोक ५१

यह तो हुई हमारे महाकवि के जानने न जानने की बात। अब देखिए, इसी 'त्र्यम्बक' शब्द को बिगाड़ कर आपने किस तरह 'त्रियम्बक' कर दिया है। कुमारसम्भव के तीसरे सर्ग का चवालीसवाँ पद्य पढ़िए :—

स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्म्मव्यवधानवत्याम्।
आसीनमासन्नशरीरपातस्त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श ॥

छन्दोनियमानुसार इस पद्य के चौथे चरण में शङ्कर के एक ऐसे नाम का होना आवश्यक था जिसका दूसरा और चौथा अक्षर दीर्घ हो। वह बात 'त्र्यम्बक' में न थी; इसलिए उसका रूप बिगाड़ कर कवि ने 'त्रियम्बक' कर डाला। क्यों ऐसा किया? कालिदास ऐसे महाकवि ने इस दोष से बचने की क्यों चेष्टा न की? त्रियम्बक के सदृश तौलवाला शङ्कर का एक नाम 'त्रिलोचन' भी है। उसे क्यों न रक्खा? अथवा, पद्य को और किसी रूप में क्यों न ढाला? क्या ऐसा करने की उसमें शक्ति न थी? जो कवि हज़ारों श्लोक बना सकता था वह क्या इस एक पद्य को किसी और तरह न कह सकता था? इन प्रश्नों का कौन उत्तर दे सकता है? इन शङ्काओं का कौन समाधान कर सकता है? सम्भव है, किसी व्याकरण अथवा कोश के अनुसार, कालिदास के समय में, 'त्रियम्बक' शब्द भी शुद्ध माना जाता

रहा हो। सम्भव है, यह कवि की भूल हो। जो विद्वान—जो महात्मा—बड़े बड़े काम करते हैं उनसे कभी कभी छोटी छोटी बातों में भी भूलें हो जाया करती हैं। ऐसी कितनी ही आख्यायिकायें लोक में प्रसिद्ध हैं। यह भी सम्भव है कि कवि ने निरङ्कुशता-वश ऐसा प्रयोग किया हो। उसने कहा हो, कुछ परवा नहीं, मैं व्याकरण और कोश का अनुयायी नहीं। मैं जैसा प्रयोग करूँ, वैयाकरणों और कोशकारों को, हज़ार दफ़े ग़रज़ हो तो उसे शुद्ध मान कर अपने ग्रन्थों में स्थान दें। मैं उनका वशवर्ती नहीं; वे मेरे अनुगामी होना चाहें तो हो सकते हैं। कुछ भी हो, महाकवि के इस पूर्वोक्त शब्द-प्रयोग को विद्वानों ने उसके स्वातंत्र्य का नमूना ज़रूर माना है। इसी से मल्लिनाथ को पूर्वोक्त श्लोक की टीका लिखते समय कहना पड़ा:—

"केचित् साहसिकाः 'त्रिलोचनं' इति पेठुः। त्र्यम्बकमित्युक्ते पादपूरणव्यत्यासात् त्रियम्बकमिति पादपूरणार्थोऽयमियङादेशश्छान्दसो महाकविप्रयोगादभियुक्तैरङ्गीकृतः"॥

इससे यह भी सिद्ध है कि 'त्रियम्बक' शब्द की अशुद्धि के ख़याल से ही किसी किसी ने इसकी जगह 'त्रिलोचन' कर दिया था। इन लोगों को साहसिक कह कर मल्लिनाथ ने फटकार बतलाई है। टीकाकार के कहने का मतलब यह कि छन्द की पादपूर्ति के लिए यहाँ पर 'त्र्यम्बक' का 'त्रियम्बक' किया गया है। यह प्रयोग एक महाकवि ने किया है; इसलिए पण्डितों ने उसे मान लिया है। क्यों न हो:—"ज़बरदस्त का ठेंगा सिर पर"।

[च]

दूती संस्कृत-शब्द है और ईकारान्त है। अथवा यह कहना चाहिए कि संस्कृत-साहित्य में यह शब्द ईकारान्त ही आया है। कालिदास भी इस शब्द का ईकारान्त होना मानते हैं। प्रमाण :-

तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः॥

रघु०, स० ६, श्लोक १२.

इस श्लोक में जो 'दूत्यः' शब्द है वह 'दूती' का बहुवचन है। इससे सिद्ध है कि कविकुल-गुरु 'दूती' शब्द को साधु और शुद्ध मानते थे। पर, अब, आपकी निरङ्कुशता देखिए। आपने इस 'दूती' को अनेक स्थलों पर 'दूति' कर दिया है :—

(१) प्रतिपद्य मनोहरं वपुः पुनरप्यादिश तावदुत्थितः।
रतिदूतिपदेषु कोकिलां मधुरालापनिसर्गपण्डिताम्॥

कुमारसंभव. स० ४, श्लो० १६

(२) प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः
समधिकतररूपाः शुद्धसन्तानकामैः।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः
प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः॥

रघु०, स० १८, श्लो० ५३

(३) तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु।
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशङ्किनो वचः॥

रघु०, स० १६, श्लो० १८

(४) क्लृप्तपुष्पशयनाँल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः।
अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम्॥

रघु०, स० १६, श्लो० २३

(४) संगमाय निशि गूढचारिणं चारदूतिकथितं पुरोगताः।
वञ्चयिष्यसि कुतस्तमोवृतः कामुकेति चकृषुस्तमङ्गनाः॥

रघु०, स० १९, श्लो० ३३

इन उदाहृत पद्यों में से कुमारसम्भववाले पहले पद्य की टीका में कवि की इस दूती-सम्बन्धिनी निरङ्कुशता पर मल्लिनाथ लिखते हैं :—

ङीबन्तस्यापि दूतीशब्दस्य छन्दोभङ्गभयाद्ध्रस्वः। "अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं त्यजेद्गिराम्"—इति केचित्। "उणादयो बहुलम्"—इति बहुलग्रहणाद्ध्रस्व इति वल्लभः।

और, रघुवंश वाले (४) पद्य की टीका में भी मल्लिनाथ ने प्रायः यही बात कही है :—

अत्र ङीबन्तस्यापि दूतीशब्दस्य छन्दोभङ्गभयाद्ध्रस्वत्वं कृतम्।
"अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं त्यजेद्गिराम्"—इत्युपदेशात्।

इस टिप्पणी में आपने वल्लभ की सम्मति देने की आवश्यकता नहीं समझी। उसे आपने छोड़ ही दिया है। शायद उस मत को आपने विशेष आदर की चीज़ नहीं समझा। रघुवंश के टीकाकार चारित्रवर्द्धन ने भी 'दूती' का 'दूति' कर दिया जाना 'चिन्त्य' माना है। पर साथही यह भी लिखा है—"इदन्तो वा"। अर्थात् 'दूती' शब्द इकारान्त भी होता है। हेमाद्रि की भी राय है कि यह शब्द इकारान्त भी होता है। इन्होंने प्रमाण में शब्द-भेदप्रकाश का यह वचन उद्धृत किया है—"दूत्यां दूतिरपि स्मृता"।

इन सम्मतियों से यह सूचित हुआ कि 'दूती' भी होता है और

'दूति' भी। पर किसी टीकाकार ने किसी और कवि, महा कवि या ग्रन्थकार का एक भी ऐसा वचन उद्धृत करने की कृपा नहीं की जिसमें 'दूती' की जगह 'दूति' शब्द आया हो। वामन शिवराम आपटे, जिन्होंने संस्कृत का एक बहुत बड़ा और प्रामाणिक कोश (Dictionary) बनाया है, बड़े विद्वान् थे। सारे संस्कृत-साहित्य का मन्थन करके उन्होंने अपने कोश में, निज-कृत अर्थ की पुष्टि के लिए, न मालूम कहाँ कहाँ के वचनों के प्रमाण दिये हैं। वे भी दूती और दूति दोनों को शुद्ध समझते हैं। वे लिखते हैं:—"The ती of दूती is sometimes shortened"। अर्थात् दूती की ती कभी कभी ह्रस्व हो जाती है। पर जब इसका प्रमाण आप देने लगे तब कालिदास के पूर्वोक्त पाँच उदाहरणों में से पहले तीन अर्थात (१), (२) और (३) देकर ही चुप होगये। जान पड़ता है, इनके सिवा और कोई प्रमाण आप को नहीं मिला।

यही हाल शब्दकल्पद्रुम का है। उस में लिखा है:— "दु+बाहुलकात् तिः दीर्घश्च। इत्युज्ज्वलदत्तः"। पर जब इस कोष के कर्ता अपने और उज्ज्वलदत्त के कथन की पुष्टि के लिए प्रमाण ढूँढ़ने लगे तब वही कालिदास के रघुवंश के अठारहवें सर्ग का त्रेपनवाँ श्लोक ढूँढ़े मिला।

इससे क्या यह नहीं सूचित होता कि कालिदास ही के द्वारा प्रयुक्त 'दूति' शब्द को देख कर पूर्वोक्त पण्डितों और कोशकारों ने इस शब्द को ह्रस्व-इकारान्त माना है? अच्छा,

कालिदास ने 'दूती' की 'ती' को 'ति' क्यों कर दिया? जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, कई लोगों की राय में सिर्फ़ छन्दोभङ्ग बचाने के लिए। पर एक बार नहीं, कई बार उन्होंने ऐसा किया है। क्या हर बार इसी छन्दोभङ्ग दोष से बचने के लिए उन्होंने ऐसा किया? समझ में तो नहीं आता। यदि वे चाहते तो और तरह से छन्दोरचना कर सकते थे। अस्तु। चाहे उन्होंने किसी व्याकरण के नियमानुसार ऐसा किया हो, चाहे छन्दोभङ्ग से त्राण पाने के लिए ऐसा किया हो, चाहे भूल या निरङ्कुशता से ऐसा किया हो, कुछ लोग उनके इस प्रयोग को चिन्त्य ज़रूर समझते हैं।

[छ]

संस्कृत में कुछ धातु ऐसे हैं जिनमें, लिट् लकार आगे होने से, आम् प्रत्यय लगता है। तदनन्तर पाणिनि के—"कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि"—इस सूत्र से, लिट् लकार में, 'कृ' धातु जोड़ दिया जाता है:—प्रभ्रंशयाञ्चकार आदि रूप इसी तरह के हैं। ऐसे क्रियापदों के तीन खण्ड हो सकते हैं। यथा—प्रभ्रंशय आम् चकार। परन्तु इन क्रियाओं का जब प्रयोग होता है तब इनका सिद्ध रूप एकत्र लिखा जाता है; दो या तीन खण्ड नहीं कर दिये जाते। अथवा, यह कहिए कि इनके बीच में कोई और शब्द नहीं आता। कालिदास इस बात को जानते थे। प्रमाण:—

(१) प्रमथमुखविकारैर्हासयामास गूढम् ।

कुमारसंभव, सर्ग ७, श्लोक ६४

(२) उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे

व्यापारयामास विलोचनानि ।

कुमारसंभव, सर्ग ३, श्लोक ६७

परन्तु, इस नियम को आपने रघुवंश में कई जगह भङ्ग कर दिया है । यथा :—

(१) तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री-

वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः ।

निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्ख-

स्तंपातयां प्रथममास पपात पश्चात् ॥

रघु०, सर्ग ९, श्लो० ६१

(२) प्रभेदमात्रेण पदान्मघोनः

प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार ।

तस्याविलाम्भःपरिशुद्धिहेतो-

र्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ॥

रघु०, स० १३, श्लो० ३६

(३) इत्यूचिवानुपहृताभरणः क्षितीशं

श्लाघ्यो भवान् स्वजन इत्यनुभाषितारम् ।

संयोजयां विधिवदास समेतबन्धुः

कन्यामयेन कुमुदः कुलभूषणेन ॥

रघु०, स०, १६, श्लो० ८६

अब, देखिए, 'पातयामास' जो एक पद था उसके 'पातयां' और 'आस' ये दो टुकड़े करके उनके बीच में एक शब्द 'प्रथमं' रख दिया गया है । इसी तरह कवि ने 'संयोजयामास' के

बीच में 'विधिवन' रख दिया है। 'प्रभ्रंशयाञ्चकार' के बीच में तो 'यः' और 'नहुषं' ये दो शब्द रख दिये हैं। अश्वघोष कालिदास के बाद हुए हैं। उन्होंने अपने काव्य, बुद्धचरित, में कालिदास के पदों, वाक्यों, उक्तियों, यहाँ तक कि श्लोकों के एक एक दो दो चरणों तक को उठाकर वैसे ही रख दिया है। कालिदास के पूर्वोक्त प्रयोगों की भी उन्होंने नक़ल की है बुद्धचरित के छठे सर्ग का अट्ठावनवाँ श्लोक है:—

पूजाभिलाषेण च बाहुमान्याद्दिवौकसस्तं जगृहुः प्रविद्धम् ।
यथावदेनं दिवि देवसंघा दिव्यैर्विशेषैर्महयाञ्च चक्रुः ॥

इस श्लोक में 'महयाञ्चक्रुः' इस एक क्रियापद के बीच में अश्वघोष ने एक 'च' रख दिया है। माघ कवि कालिदास के बहुत पीछे हुए हैं। उन्होंने कालिदास के इस व्यवच्छेदक प्रेम का ठीक अनुकरण तो नहीं किया; परन्तु कुछ कुछ इसी तरह का एक प्रयोग उन्होंने भी शिशुपाल-वध के दसवें सर्ग के उन्नीसवें श्लोक में किया है :—

छादितः कथमपि त्रपयान्तर्यः प्रियं प्रति चिराय रमण्याः ।
वारुणीमदविशङ्कमथाविश्चक्षुषोऽभवदसाविव रागः ॥

'आविरभवन्'—एक पद है। इसके 'आविः' और 'अभवत्' इन दो अंशों को अलग अलग करके बीच में माघ ने 'चक्षुषोः' पद को स्थान दिया है। उनका ऐसा करना मल्लिनाथ को सहन नहीं हुआ। उन्होंने इस प्रयोग को साधु सिद्ध करने की चेष्टा छोड़ कर साफ़ कह दिया है:—"आविर्भुवोर्व्यवधानं कवि-

स्वातंत्र्यात्"। अर्थात् कवि की यह स्वतंत्रता या निरङ्कुशता है जो उसने 'आविः' और 'भू' में व्यवधान पैदा कर दिया—उन्हें पृथक् पृथक् करके बीच में एक और पद रख दिया। कालिदास के उदाहृत (१) पद्य की टीका में भी मल्लिनाथ ने निःसङ्कोच होकर यह नोट दिया है :—

"कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि"—इत्यत्र अनुशब्दस्य व्यवहितविपर्य्यस्तप्रयोगनिवृत्यर्थत्वात—"पातयां प्रथममास"—इत्यपप्रयोग इति पाणिनीयाः। यथाह वार्तिककारः—"विपर्यासनिवृत्यर्थं व्यवहितनिवृत्यर्थञ्च"।

मतलब यह कि पाणिनि के सूत्र में जो 'अनुप्रयुज्यते' है उसके 'अनु' से यह तात्पर्य्य है कि कृधातु का रूप, लिट् लकार में, 'आम्' प्रत्यय के ठीक आगे आना चाहिए—उससे लगा हुआ होना चाहिए। कालिदास ने अपने प्रयोग में ऐसा नहीं किया। अतएव पाणिनीय-मतानुसार वह अपप्रयोग, अर्थात् असाधु या अशुद्ध प्रयोग, हुआ। अपने इस मत को मल्लिनाथ ने वार्तिककार की उक्ति उद्धृत करके पुष्ट किया है। चारित्रवर्द्धन ने भी अपनी टीका में मल्लिनाथ का अनुधावन किया है। उन्होंने लिखा है—"पातयां प्रथममासेति व्यवहितोऽनुप्रयोगः कविप्रमादः'—उसके आगे, कालिदास के प्रयोग में खींच खाँच कर सही साबित करने की चेष्टा करनेवालों की विचार-कोटियों का उल्लेख करके आपने लिखा है—" यद्यप्येवं केचन समादधते, तथापि कवेरियं रीतिस्तु न भवति। .... । असौ (प्रयोगः) असाधुरेव "। टीकाकार हेमाद्रि ने यद्यपि और

लोगों की समाधान-व्यवस्थाओं को विस्तारपूर्वक लिखा है तथापि अपनी सम्मति में उन्होंने भी यही कहा है—"तेन व्यवधाने प्रयोगं निराकरोति"। अतएव ये तीनों टीकाकार कालिदास के इन प्रयोगों को प्रामादिक समझते हैं। जिन्होंने इन प्रयोगों को साधु सिद्ध करना चाहा है उनका कोटिक्रम बड़ाही विलक्षण है। उन्होंने बड़ीही बेढब बेढब तर्कनायें लड़ाई हैं। बेचारे कालिदास को कभी स्वप्न में भी न ख़याल हुआ होगा कि मेरे इन प्रयोगों को शुद्ध सिद्ध करने के लिए पण्डितों को इतना वाग्जाल फैलाना पड़ेगा। कालिदास के समय में या तो ऐसे प्रयोग व्याकरण-सम्मत समझे जाते होंगे, या, इस सम्बन्ध में, कवि ने व्याकरण के नियमपालन की आवश्यकता ही न समझी होगी। क्योंकि, पूर्वोक्त पदों में व्यवधान हो जाने पर भी उनका अर्थ समझने में बाधा नहीं उपस्थित होती। तथापि, अधिकतर विद्वानों की सम्मति में, पाणिनीय व्याकरण के अनुसार कालिदास निरङ्कुशता के आरोप से नहीं बच सकते।

(६) नाम-सम्बन्धी अनौचित्य।

पार्वती में उन्हें अनुरक्त करने के लिए शङ्कर को समाधि से जगाने की चेष्टा जी तोड़ कर मन्मथ महाराज कर रहे हैं। उन पर पञ्चबाण की बाणवर्षा हो रही है। शङ्कर का चित्त क्षुब्ध हुआ। वे जगे और क्षोभ का कारण ढूँढ़ने लगे। देखा तो वसन्त के सखा मनोज महोदय कान तक धनुष ताने शर-सन्धान कर रहे हैं। पिनाकपाणि परमेश्वर ने कोप किया। तीसरे नेत्र

को खोल कर उन्होंने जो उस धन्वी पर कोप-दृष्टि डाली तो उसकी ज्वाला से जल कर वह ख़ाक हो गया। कुमारसम्भव में कालिदास ने इस प्रसङ्ग का वर्णन इस प्रकार किया है :—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥

भावार्थ—हे प्रभो! क्रोध न कीजिए, क्रोध न कीजिए—इस प्रकार आकाश में देव-गण जब तक प्रार्थना करें करें, तब तक भव (महादेव) के नेत्र से निकली हुई उस ज्वाला ने काम को जला कर भस्मावशेष कर दिया। महादेव के मृड, रुद्र, ईश्वर, त्रिनेत्र, हर, स्थाणु आदि जहाँ और अनेक नाम हैं तहाँ उनका एक नाम भव भी है। यह भव शब्द उत्पत्तिवाचक है। उसी का प्रयोग इस पद्य में कालिदास ने किया है। पर, यह प्रसङ्ग उत्पत्ति का नहीं, नाश का है। अतएव संहार-वाचक हर शब्द के प्रयोग की ही यहाँ पर अपेक्षा थी। उसका प्रयोग नहीं किया गया। इस कारण इस श्लोक में नाम-सम्बन्धी अनौचित्य आगया। कुमारसम्भवसार में हम इस अनौचित्य का उल्लेख कर चुके हैं। उसे पढ़ कर उस समय एक सज्जन बहुत बिगड़े थे और हमें उन्होंने बहुत कुछ भला बुरा कहा था। परन्तु, महाकवि क्षेमेन्द्र ने भी कालिदास को इस दोष का दोषी ठहराया है। उन्होंने अपने औचित्य-विचार-चर्चा नामक ग्रन्थ में लिखा है :—

"अत्र पश्यतो भगवतस्त्रिनेत्रस्य स्मरशरनिपातक्षोभे वर्ण्यमाने तन्निकार-कोपप्रशमाय संहर संहर प्रभो कोपमिति यावद्वचः खे देवानां चरति ताव-द्भवनेत्रोद्भवः स वह्निर्मदनं भस्मराशिशेषमकार्षीदित्युक्ते संहारावसरे रुद्रस्य भवाभिधानमनुचितमेव"

मतलब यह कि, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, संहार के प्रसङ्ग में रुद्र का भव नाम से उल्लेख करना सर्वथा अनुचित है। कल्पना कीजिए कि माता-पिता ने अपने किसी लड़के का नाम उदारराम रक्खा। बड़े होने पर उसने चोरी करना सीखा। कुछ दिनों में वह नामी चोर हो गया। तब लोग उसे आपस में चोरदास भी कहने लगे। अन्त को वह पकड़ा गया और उसने अपने चौर कर्म्म का सच्चा सच्चा हाल कह सुनाया। उसे किसी जासूसी उपन्यासकार ने उपन्यास के रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित किया। अब यदि यह उपन्यास-लेखक इस आदमी की बिकट चोरियों के वर्णन में इसे उदारराम के नाम से याद करेंगे तो यह नाम पढ़नेवालों के कान में ज़रूर खटकेगा। ऐसे वर्णन में चोरदास नाम ही सार्थक होगा और उसके प्रयोग से यथार्थता के सिवा एक प्रकार की सरसता भी आ जायगी। यह कालिदास की निरङ्कुशता है जो उन्होंने पूर्वोक्त श्लोक में प्रसङ्ग की परवा न करके महादेवजी के अप्रासङ्गिक नाम से काम लिया।

(१) इतिहास-सम्बन्धी अनौचित्य।

राजा दिलीप ने ९९ अश्वमेध-यज्ञ किये। इतने से उसे

सन्तोष न हुआ। उसने एक और यज्ञ करके शतक्रतु इन्द्र की बराबरी करनी चाही। यह बात भला इन्द्र को कब पसन्द होने वाली थी। उसने इस बार छोड़े गये घोड़े को छिप कर चुरा लिया और ले चला। घोड़े का रक्षक था दिलीप का पुत्र रघु। वह घोड़े को न देख कर बहुत घबराया। उसी समय वशिष्ठ की नन्दिनी धेनु वहाँ आ गई। उसकी कृपा से वह सर्वदर्शी हो गया। अतीन्द्रिय पदार्थ भी उसे देख पड़ने लगे। इस गुण के प्रभाव से उसने इन्द्र को घोड़ा ले जाते देखा। अतएव उसने इन्द्र को ललकारा और उसकी निर्भर्त्सना करके घोड़ा छोड़ देने को कहा। इस पर इन्द्र ने उत्तर दिया कि सौ यज्ञ करनेवाला अकेला मैं ही प्रसिद्ध हूँ। मेरे इस यश को तेरा पिता छीन लेना चाहता है। यह मैं नहीं होने दूँगा। इसका उल्लेख करके कालिदास ने रघुवंश के तीसरे सर्ग के पचासवें पद्य में इन्द्र के मुख से यह कहलाया है :—

> अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयापहारितः।
> अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्याः सगरस्य सन्ततेः॥

अर्थात्—इसी से कपिल का अनुकरण करनेवाले मैंने तेरे पिता के इस घोड़े का हरण किया है। इसे छिना लेने का प्रयत्न व्यर्थ है। देख, कहीं सगर की सन्तति के मार्ग में पैर न रखना। इस पर विचार :—कपिल और सगर के सम्बन्ध की बात यों है कि सगर ने यज्ञ का घोड़ा छोड़ा। उसे भी, दिलीप के घोडे की तरह, यही इन्द्र-महाराज चुरा ले गये। लेकर उसे

आपने कपिल के आश्रम में बाँध दिया । सगर के लड़के उसे ढूँढ़ते ढूँढ़ते वहाँ पहुँचे । घोड़े को कपिल के पास ही बँधा देख कपिल ही को उन्होंने चोर समझा । इस पर कुपित कपिल ने उन्हें जला कर ख़ाक कर दिया । इस आख्यान को ध्यान में रख कर, अब, यह विचार कीजिए कि इन्द्र का अपने को "कपिलानुकारिणा", या किसी किसी पुस्तक के अनुसार "कपिलानुसारिणा", कहना कहाँ तक ठीक है । "कपिलानुकारिणा मयायमश्वोऽपहारितः" कहना मानो कपिल पर सगर का घोड़ा चुराने का आरोप करना है । परन्तु, कपिल चोर न थे । चोर थे यही हज़रत इन्द्र । सगर की सन्तति के मार्ग की याद दिला कर कवि ने इन्द्र की उक्ति से जो यह ध्वनि निकाली है कि जैसे सगर-सन्तति को कपिल ने जला कर ख़ाक कर दिया था वैसे ही इन्द्र के द्वारा रघु का भी विनाश-साधन हो सकता है, सो बहुत ठीक है । उसके विषय में हमें कुछ नहीं कहना । कहना है सिर्फ़ अश्वापहरण के सम्बन्ध में, इन्द्र के कपिलानुकरण की उक्ति पर । सगर की सन्तति के जलाये जाने की बात तो श्लोक के उत्तरार्द्ध से निकलती है । पूर्वार्द्ध में "कपिलानुकारिणा मयापहारितः" की क्या सङ्गति ? "अपहारितः" के, जिसका अर्थ टीकाकारों ने "हृतः" किया है, पासही "कपिलानुकारिणा" होने से क्या यह नहीं सूचित होता कि जैसे कपिल ने सगर के घोड़े का अपहरण किया था वैसे ही मैंने तेरे पिता दिलीप के इस घोड़े का अपहरण किया है ? और

यदि होता है तो यह पद्य ऐतिहासिक अनौचित्य के दोष से नहीं बच सकता।

[ख]

वाल्मीकि-रामायण के बाल-काण्ड के सत्तरवें सर्ग में लिखा है कि दिलीप के पुत्र भगीरथ, भगीरथ के ककुत्स्थ, ककुत्स्थ के रघु और रघु की बारहवीं पीढ़ी में अज हुए। परन्तु कालिदास ने रघुवंश में लिखा है कि दिलीप के पुत्र रघु और रघु के अज थे। वाल्मीकि के अनुसार रघु थे दिलीप के प्रपौत्र; परन्तु कालिदास ने उन्हें रघु का पुत्र लिख दिया है, और बारह पीढ़ी के अनन्तर उत्पन्न अज को रघु का पुत्र बतलाया है। इस उक्ति-विभिन्नता का कुछ ठिकाना है! यदि वाल्मीकि का कथन प्रामाणिक माना जाय तो, यहाँ पर, कालिदास ऐतिहासिक अनौचित्य-दोष से नहीं बच सकते।

यह ऐतिहासिक अनौचित्य गाज़ियाबाद की संस्कृत-पाठशाला के प्रधानाध्यापक श्रीयुत इन्दु शर्म्मा का उद्भावित है।

(८) यतिभङ्ग।

छन्दःशास्त्र के कर्त्ता विद्वानों ने नियम कर दिया है कि किस वृत्त में कहाँ पर विराम होना चाहिए—अर्थात् कहाँ पर ठहर कर पढ़ना चाहिए। जहाँ पर ठहरने का नियम होता है उस स्थल को यति कहते हैं। यह यति या विराम किसी शब्द के बीच में न होना चाहिए। क्योंकि, बीच में होने से शब्द के टुकड़े हो जाते हैं जिससे सुननेवाले को ठीक ठीक

अर्थ-ज्ञान नहीं होता और पढ़ते अच्छा भी नहीं लगता । इसका हिन्दी में एक कल्पित उदाहरण लीजिए:—

सदा श्रीराजारा—मपदयुग वन्दों बहु विध

यह शिखरिणी छन्द है । इसमें १७ अक्षर होते हैं और छठे तथा ग्यारहवें अक्षर पर यति होती है । अब, देखिए, ऊपर के उदाहरण में छठा अक्षर 'राम' का 'रा' है । वहाँ पर ठहरने से 'राम' का 'रा' एक तरफ़ रह जाता है और 'म' दूसरी तरफ़ चला जाता है । यह दोष माना गया है । अब, इस उदाहरण में, कुछ फेर फार करके इसके आगे एक और चरण की कल्पना कीजिए । यथा:—

सदा श्रीराजारा-मपदयुग वन्दों विविध वि-
ध सीताजी के हू पदकमल मैं वन्दन करूँ

इसमें 'विध' शब्द को देखिए । उसकी 'वि' तो पहले चरण के अन्त में है और 'ध' दूसरे चरण के आरम्भ में । यह यति-भङ्ग का और भी बुरा उदाहरण है । यति-भङ्ग के उदाहरण संस्कृत-कवियों के काव्यों में बहुत पाये जाते हैं । पहले प्रकार के यतिभङ्ग तो और भी अधिक हैं । तथापि शास्त्रकारों ने यति-भङ्ग दोष को अवश्य माना है । मण्डन मिश्र और शङ्कराचार्य्य से जिस समय बातचीत होने लगी उस समय मण्डन से उसके पद्यात्मक भाषण में यतिभङ्ग-दोष हो गया । इस पर शङ्कराचार्य्य तत्काल बोल उठे :—

अहो प्रकटितं ज्ञानं यतिभङ्गेन भाषिणा

अर्थात् यतिभङ्गपूर्वक भाषण करनेवाले तू ने अपने ज्ञान की इयत्ता का खूब अच्छा प्रमाण दिया। इस यतिभङ्ग-दोष से कालिदास भी नहीं बचे। औरों के काव्य में यह दोष उतना नहीं खटकता। पर कवियों के आचार्य्य महाकवि कालिदास के काव्य में ज़रूर कुछ अधिक खटकता है। रघुवंश के चौदहवें सर्ग का चालीसवाँ पद्य है :—

अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान्मतो मे।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वे-नारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः॥

'मलत्वेन' एक पद है। उसका 'मलत्वे'—इतना अंश तो तीसरे चरण के अन्त में रहा और अवशिष्ट अंश 'न' चौथे चरण के आरम्भ में चला गया। वहा पर न आरोपिता मिलकर 'नारोपिता' हुआ है। इस पद्य में यद्यपि यति-भङ्ग दोष है, तथापि यह है बड़ा ही महत्त्वपूर्ण पद्य। इसमें कालिदास ने चन्द्रग्रहण का यथार्थ कारण पृथ्वी की छाया का चन्द्रमा पर पड़ना बतलाया है। इससे सिद्ध है कि कालिदास और उनके पूर्ववर्ती विद्वान् यह जानते थे कि ग्रहण क्या चीज़ है।

(८) पुनरुक्ति।

[क]

रघुवंश के पहले सर्ग का बारहवाँ श्लोक है :—

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव॥

अर्थः—उस विशुद्ध वंश में और भी विशेष विशुद्ध, दिलीप

नामक राजेन्दु, क्षीरसागर में इन्दु की तरह, पैदा हुआ। यहाँ बिना किसी कारणविशेष के दो बार 'इन्दु' शब्द का प्रयोग किया गया है। न तो यहाँ कोई विशेषोक्ति है, न कोई विशेष कारण ही है। अतएव वाग्भट के मत में यहाँ पुनरुक्ति दोष है। 'कथित-पद' नाम का भी एक दोष होता है। एक बार कहा गया पद (शब्द) फिर भी उसी पद्य में आने से यह दोष होता है। आप चाहें तो पूर्वोक्त पद्य में पुनरुक्ति की जगह कथित-पद दोष मान सकते हैं।

[ख]

कालिदास ने रघुवंश के कितनेही श्लोक ज्यों के त्यों कुमारसम्भव में रख दिये हैं और कुमारसम्भव के रघुवंश में। इससे कोई हानि नहीं। कवि अपनी एक पुस्तक की कविता दूसरी पुस्तक में रख सकता है; क्योंकि, वह उसी की चीज़ है। परन्तु यदि वह एक ही पुस्तक में, एकही जगह, पास ही पास, एक श्लोक का एक चरण दूसरे श्लोक में तद्वत् रख दे तो उसका यह कार्य्य ज़रूर खटकेगा। कालिदास ने रघुवंश के ग्यारहवें सर्ग में ऐसाही किया है :—

> दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः।
> राघवाय तनयामयोनिजां पार्थिवः श्रियमिव न्यवेदयत्॥

यह सैंतालीसवाँ पद्य है। इस श्लोक का तीसरा चरण, इसके आगे, अड़तालीसवें ही पद्य में, जैसे का तैसा रख दिया गया है। देखिए :—

मैथिलः सपदि सत्यसङ्गरो राघवाय तनयामयोनिजाम् ।
सन्निधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान् ॥

देखा आपने ! क्या कालिदास को शब्दों का दुष्काल था ? क्यों न उन्होंने इस पाद-पुनरुक्ति को बचाया ? इन दोनों श्लोकों का अर्थ मिलता जुलता है । सम्भव है, इनमें से एक प्रक्षिप्त हो। यह भी सम्भव है कि इनका एक चरण लेखकों के प्रमाद से जाता रहा हो । इससे किसी ने "राघवाय तनयामयोनिजां" को श्लोकपूर्ति के लिए दुबारा लिख दिया हो ।

(१०) अधिकपदत्व ।

रघुवश के पाँचवें सर्ग का बत्तीसवाँ श्लोक यह है :—

अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः ।
स्पृशन्करेणानतपूर्वकायं सम्प्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः ॥

भावार्थ:—सैकड़ों ऊँटों और खच्चरों पर अनन्त धन-राशि लदवा देनेवाले और अपने शरीर के ऊपरी भाग को झुका कर बड़ी ही नम्रता से सामने खड़े होनेवाले प्रजा के ईश्वर राजा रघु को हाथ से स्पर्श करके, बिदा के समय, प्रसन्न हुआ महर्षि कौत्स वाणी बोला । यहाँ पर 'वाचं'—अर्थात् वाणी--शब्द की अपेक्षा न थी । सिर्फ़ 'उवाच'–अर्थात् बोला—कह देनेही से अपेक्षित अर्थ-सिद्धि हो जाती है । अमुक मनुष्य अमुक से इस प्रकार बोला, या कहने लगा—यही मुहाविरा है । बात बोला या वाणी बोला—कहने का मुहाविरा नहीं । इस श्लोक की टीका लिखते समय इस दोष का उल्लेख मल्लिनाथ ने तो

नहीं किया, पर हेमाद्रि और चारित्रवर्द्धन ने किया है । हेमाद्रि का कथन है—"विशेषणं विना वाक्शब्दप्रयोगश्चिन्त्यः" । अर्थात् बिना विशेषण के वाकशब्द का प्रयोग चिन्तनयोग्य है । विशेषण से मतलब है कि यदि यहाँ पर होता—"मधुरां वाचमुवाच" या "मनोरमां वाचमुवाच" तो वाक् शब्द का प्रयोग ठीक समझा जाता । मधुर वाणी बोला, मनोरम वाणी बोला, या कड़वी वाणी बोला—आदि प्रयोग ठीक समझे जा सकते हैं, क्योंकि ऐसे उदाहरणों में वाणी शब्द विशेषण-सहित है । पर कालिदास ने कोई विशेषण नहीं दिया । इसलिए "वाचमुवाच" कहना निर्दोष नहीं । चारित्रवर्द्धन इस विषय में लिखते हैं :—"शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः—इत्यादौ यथा विशेषणं तद्वदत्रापि वाचो विशेषणायोगाद्वाचमुवाचेति चिन्तनीयम्" । शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः—यह शिशुपाल-वध का पद्यांश है । इसमें 'वाचं' का विशेषण 'शुचिस्मितां' होने से वह दोष नहीं जो कालिदास की उक्ति में है । साहित्यदर्पण के मत में भी पूर्वोक्त पद्य में अधिकपदत्व दोष है । उसके कर्ता विश्वनाथ कविराज ने लिखा है :—"अत्र वाचमित्यधिकम । उवाचेत्यनेनैव कृतार्थत्वात्" ।

(११) श्रुतिकटुत्व ।

जो शब्द, पद या पदैकदेश कान को कटु मालूम हो—जो कान को खटके—,पढ़ने या सुनने में जो कान को अच्छा न लगे, वह

श्रुतिकटुत्व दोष से दूषित समझा जाता है। कुमारसम्भव के तीसरे सर्ग का अठारहवाँ श्लोक है:—

तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्य्यमर्थोऽयमर्थान्तरभाव्य एव।
अपेक्षते प्रत्ययमङ्ग लब्ध्यै बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः॥

उदाहरण के लिए दिये गये प्रत्येक पद्य का भावार्थ देने से यह निबन्ध बहुत बढ़ जायगा। अतएव इस श्लोक का अर्थ न लिख कर केवल इतना ही कह देना हम बस समझते हैं कि इसमें 'सिद्ध्यै' और 'लब्ध्यै' का 'द्ध्यै' और 'ब्ध्यै' कर्णकटु है। इनका उच्चारण करते समय कान को बुरा लगता है। काव्यरसिक सहृदय सज्जन इसके प्रमाण हैं। और लोग इस बात को मानेंगे या नहीं. नहीं कह सकते। उनका मानना न मानना प्रामाण्य भी नहीं। क्योंकि, जो जिस बात को जानता है उसी की गवाही उस विषय में प्रमाणयोग्य मानी जाती है; औरों की नहीं। काव्यप्रकाशकार आदि कई पण्डितों ने इस दोष का उल्लेख किया है।

किसी किसी पुस्तक में इस पद्य का तीसरा चरण इस प्रकार है:—

अपेक्षते प्रत्ययमुत्तमं त्वाम्

यह पाठ 'लब्ध्यै' के कर्णकटुत्व से बच जाता है। बहुत सम्भव है, इस दोष से बचनेही के लिए किसी ने पूर्व-पाठ को बदल दिया हो। कालिदास की कविता में इस तरह के पाठान्तर पण्डितों ने कारणवश कर दिये हैं, इस बात को कितनेही विद्वान्

मानते हैं । मल्लिनाथ तक ने इसका अनुमोदन किया है । इस अनुमोदन का उल्लेख एक जगह पर हम पीछे कर आये हैं ।

इस लेख का विस्तार बहुत बढ़ गया । इस कारण काव्य-प्रकाश, साहित्यदर्पण, काव्यानुशासन आदि ग्रन्थों में दिखलाये गये दोषों में से केवल कुछ का उल्लेख करके अब हम इसे समाप्त करना चाहते हैं ।

(१२) जुगुप्साव्यञ्जक ।

मनीषिताः सन्ति गृहेऽपि देवतास्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः ।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः ॥

कुमारसम्भव, सर्ग ५, श्लोक ८

इस श्लोक में 'पेलव' शब्द जुगुप्साव्यञ्जक है ।

(१३) ग्राम्य-भाव-व्यञ्जक ।

कुमारसम्भव के पाँचवें सर्ग का अड़तीसवाँ श्लोक यह है :—

तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवरोमराजिः ।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः ।।

काव्यानुशासन के कर्ता वाग्भट के मत में यहाँ 'मध्यमणि' शब्द से ग्राम्य-भाव व्यक्त होता है ।

इस श्लोक में एक बात और भी विचारणीय है । इसके आरम्भ ही में 'तस्याः' पद है । उसका अर्थ यहाँ पर 'उसके'

हैं। फिर, चौथे चरण में 'तत्' शब्द भी है। उसका भी अर्थ 'उसका' या "उसकी' होता है। इस 'तत्' की कोई विशेष आवश्यकता न थी। उसके बिना भी काम चल सकता था। इसी से टीकाकार मल्लिनाथ ने लिखा है:—"तस्या इत्यनुवृत्तौ पुनस्तच्छब्दोपादानं वाक्यान्तरत्वात्सोढव्यम्"। अर्थात् 'तत्' शब्द दूसरे वाक्य में है। इसलिए उसका प्रयोग "सहन किया जाने योग्य है"।

(१४) अविमृष्टविधेयांश।

[क]

जिस बात को मुख्यतया कहना है—जिस अर्थ का प्रधानता-पूर्वक प्रतिपादन करना है—उसकी मुख्यता या प्रधानता का ख़याल न रख कर, उस पर ज़ोर दिये बिना ही, कथनीय बात कह जाने से अविमृष्टविधेयांश दोष होता है। जो अंश विधेय है वह जहाँ अच्छी तरह नहीं स्पष्ट होता है वहाँ काव्यशास्त्र के ज्ञाता इस दोष की उद्भावना करते हैं :—

स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरपुष्पकाञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य॥

कुमारसम्भव के तीसरे सर्ग का यह पचपनवाँ पद्य है। पार्वती की पुष्पकाञ्ची, अर्थात् फूलों की तागड़ी, का यह वर्णन है। कवि का आशय है कि यह तागड़ी क्या है मानों काम के धन्वा की दूसरी डोरी है। उसे पार्वती के पास धरोहर के तौर पर उसने रख दिया है कि जब काम पड़ेगा तब ले लूँगा। इस

उक्ति में मौर्वी, अर्थात् डोरी, की प्रधानता नहीं है ; प्रधानता है उसके द्वितीयत्व की। इसलिए 'द्वितीयमौर्वीमिव' न कह कर 'मौर्वीं द्वितीयामिव' कहना चाहिए था। 'इव' का सम्बन्ध 'द्वितीयां' के साथ होना चाहिए था, 'मौर्वीं' के साथ नहीं। सो बात नहीं हुई, इसी से यहाँ पर अविमृष्टविधेयांश दोष हुआ। इस पद्य का जो पाठ हमने ऊपर दिया है वही काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन में है। परन्तु निर्णयसागर के छपे हुए कुमारसम्भव में निर्दोष पाठ 'मौर्वीं द्वितीयामिव' ही है। यदि ऐसा ही पाठ होता तो पूर्वोक्त दोनों ग्रन्थों के कर्त्ताओं को इसमें दोष दिखलाने का मौक़ा ही न मिलता। अतएव जान पड़ता है, कालिदास को इस दोष से बचानेही के लिए किसी ने पुराने पाठ को बदल कर निर्दोष कर दिया है।

[ख]

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरं वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने॥

कुमारसम्भव, सर्ग ५, श्लोक ७२

पार्वती से ब्रह्मचारिवेशधारी शङ्कर अपनेही मुँह से अपनी निन्दा करते हैं :—"रूप का तो यह हाल कि तीन आँखें; जन्म का पता नहीं ; धन कितना है, यह दिगम्बरत्व ही से प्रकट हो रहा है। हे बालमृगाक्षि ! वर में जो बातें देखी जाती हैं उनमें से भला एक भी बात त्रिलोचन में है ? अर्थात् न रूपही है, न रुपया ही पैसा है, न जन्मही का पता ठिकाना है। इस श्लोक

में 'अलक्ष्यजन्मता' पद पर पण्डितों को एतराज़ है। वे कहते हैं कि वर के जन्म का पता चले या न चले—वह ज्ञात हो या अज्ञात—यह कोई बड़ी बात नहीं। जो अपनी कन्या के लिए वर ढूँढ़ने जाता है वह वर की जन्मता की—कब वर का जन्म हुआ इत्यादि बातों की–खोज नहीं करता। खोज करता है वह वर की उत्पत्ति के विषय की:—वर का बाप कौन है, माँ कौन है, कुल कैसा है—इन्हीं बातों की वह विशेष खोज करता है। अतएव कालिदास को भी चाहिए था कि वे शङ्कर के मुँह से उनकी उत्पत्ति की बात कहलाते, जन्मता की नहीं। ऐसा उन्होंने नहीं किया, इसलिए उनकी इस उक्ति में भी अविमृष्टविधेयांश दोष आ गया। 'अलक्ष्यजन्मता' की जगह यदि 'अलक्षिता जनिः' होता तो इस दोष से उनका पूर्वोक्त पद्य बच जाता। यह बड़ा ही सूक्ष्म विचार है। तिस पर भी मम्मट भट्ट ने कालिदास को नहीं छोड़ा। ऐसे दोषों की अपेक्षा वे दोष, जिनका उल्लेख इस लेख के आरम्भ में हुआ है, विशेष गुरुतर हैं। परन्तु महाकवियों के भी छोटे से छोटे दोषों तक को साहित्य-शास्त्र के आचार्य बिना दिखाये नहीं रहे।

(१५) निहतार्थता।

किसी किसी शब्द के दो दो तीन तीन अर्थ होते हैं। उनमें से कोई प्रसिद्ध होता है, कोई अप्रसिद्ध। जब कोई शब्द किसी ऐसे अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसका बोध कम, पर

प्रसिद्ध अर्थ का बोध अधिक होता हो तब वहाँ निहतार्थता दोष माना जाता है। यथा:—

> यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति।
> बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम्॥
>
> कुमारसम्भव, सर्ग १, श्लोक ४

यह हिमालय का वर्णन है। सिन्दूर और गेरू आदि धातु होने के कारण हिमालय धातुमान् है। इस 'धातुमान्' शब्द में भावार्थक प्रत्यय करने से 'धातुमत्ता' शब्द सिद्ध होता है। पर 'मत्त' शब्द, जिसका स्त्रीलिङ्ग 'मत्ता' होता है, उन्मत्तता के अर्थ का भी बोधक है और यह अर्थ अधिक प्रसिद्ध है। पूर्वोक्त पद कान में पड़ते ही इस अर्थ का भास भी होने लगता है। परन्तु कवि को यह अर्थ यहाँ अभीष्ट नहीं। अतएव निहतार्थता दोष हुआ।

(१६) क्रमभङ्गता।

[क]

भग्नप्रक्रम और अक्रम, ये दो दोष संस्कृत-साहित्य के ज्ञाताओं ने पृथक् पृथक् माने हैं। परन्तु इनमें बहुत अधिक अन्तर नहीं है। इस कारण, क्रमभङ्गता नाम देकर, हम इन दोनों प्रकार के दोषों का एक ही साथ उल्लेख किये देते हैं:—

अभिज्ञान-शाकुन्तल का एक पद्य यह है:—

> गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
> छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।

विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदञ्च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥

इसके प्रत्येक चरण का सारांश है :—

(१) भैंसें पानी में उछलें कूदें

(२) मृगों के झुण्ड छाया में पागुर करें

(३) शूकरों के द्वारा मोथ-नामक घास खाई जाय

(४) मेरा भी धनुष विश्राम करे

उदाहृत पद्य के पहले, दूसरे और चौथे चरण का कारक एक प्रकार का है, अकेले तीसरे चरण का दूसरे प्रकार का। अतएव कारक का क्रम भग्न हो गया। इससे भग्नप्रक्रम दोष हुआ।

[ख]

पार्वती ने इसलिए बड़ी तपस्या की कि शङ्कर उनका पाणिग्रहण करें। शङ्कर ने उनकी परीक्षा करनी चाही। वे ब्रह्मचारी का रूप धारण कर के पार्वती के पास आये। पूछने पर पार्वती की सखी ने तपस्या का कारण बतलाया। तब ब्रह्मचारिरूपी शिव ने अपनी बड़ी निन्दा की, अनेक दोष अपने में दिखलाये और पार्वती से कहा कि ऐसे अमङ्गल वेशवाले शिव के साथ विवाह का विचार छोड़ दो। इस पर पार्वती ने कहा:—

विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा।
जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः ॥

भावार्थ:—सुनिए, जिनकी यह इच्छा हो कि उन पर विपत्ति न आवे, या जो बहुत कुछ ऐश्वर्य्यप्राप्ति के अभिलाषी हों, वे मङ्गल-

द्रव्यों की यथेष्ट सेवा करें। वे चाहे जितनी सुगन्धियाँ और मालायें आदि अपने शरीर पर धारण करें। उनकी बात जुदी है। परन्तु सारा संसार जिसे अपना शरण्य समझता है, और जिसे किसी भी वस्तु की कामना नहीं है, उस महात्मा को तृष्णा से दूषित अन्तःकरण वाले इन मङ्गल-द्रव्यों से क्या काम? इस पद्य के पहले चरण में तो कालिदास ने एकवचनात्मक 'मङ्गल' शब्द का प्रयोग किया; परन्तु चौथे चरण में उसी 'मङ्गल' के लिए विशेषणसहित 'एभिः'—यह बहुवचनात्मक सर्वनाम लिखकर क्रमभंग कर दिया। मल्लिनाथ ने इस श्लोक की टीका लिखते समय 'मङ्गल' शब्द को जातिवाचक बतलाकर कालिदास के वचन-सम्बन्धी इस दोष के परिहार की चेष्टा की है। इस समाधान से यथाकथञ्चित् सन्तोष हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। यदि कोई कहे:—

मङ्गल से कुछ भी नहीं योगी जन को काम।
इनकी क्या परवा उसे वह तो आत्माराम॥

यहाँ पर यदि 'इनकी' का प्रयोग खटक सकता है तो कालिदास के पद्य में 'एभिः' का प्रयोग भी खटक सकता है।

[ग]

पार्वती की तपस्या से शङ्कर बड़े प्रसन्न हुए। उनके साथ उन्होंने विवाह करना स्वीकार किया। इस पर पार्वती ने कहा कि आप ऐसा प्रबन्ध कीजिए जिसमें पिता हिमवान् मेरा

विधिवत् विवाह कर दे। शङ्कर ने इस बात को भी मान लिया। उन्होंने सप्तर्षियों को बुला कर घटक का काम उनके सिपुर्द किया। वे हिमालय के पास गये और विवाह की बातचीत ठीक करके महादेव के पास लौट आये। इस सम्बन्ध में कालिदास कहते हैं:—

ते हिमालयमामंत्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टः खमुद्ययुः॥

हिमालय से सब बातें ठीक करके वे लोग, अर्थात् सप्तर्षि, शङ्कर से फिर मिले और उनसे यह कहकर कि काम सिद्ध हो गया, उनके द्वारा बिदा किये जाने पर, वे आकाश को उड़ गये। यहां पर 'अस्मै' और 'तत्' ये सर्वनाम विचारणीय हैं। 'अस्मै निवेद्य' का अर्थ है—इससे निवेदन करके; और 'तद्विसृष्टाः' का अर्थ है—उसके द्वारा छोड़े या बिदा किये गये। तीसरे चरण में जिसके लिए सर्वनाम 'इस' का प्रयोग किया उसी के लिए चौथे चरण में अनुपदही 'उस' का प्रयोग किया गया। यह हिन्दी तो है नहीं कि जहाँ जी में आया 'इस' लिख मारा और जहाँ जी में आया 'उस'। संस्कृत-वेत्ता आलङ्कारिकों ने इसे दोष माना है। यदि किसी वाक्य में 'इस' लिखिए तो 'इस' ही लिखते जाइए; 'उस' लिखिए तो 'उस' ही का सर्वत्र प्रयोग कीजिए। शास्त्रज्ञ मनमानी नहीं करने देते। वे इसे सर्वनाम-सम्बन्धी भग्नप्रक्रम दोष मानते हैं।

[घ]

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः।

कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥

कुमारसंभव, सर्ग ५, श्लोक ७१

भावार्थ:—पिनाकपाणि शङ्कर के समागम की इच्छा से दो चीज़ें शोचनीय अवस्था को पहुँची हैं। एक तो चन्द्रमा की कला, दूसरी तू, अर्थात् पार्वती। यहाँ पर जैसे 'कला' के आगे 'च' आया है वैसे ही 'त्वं' के आगे भी आना चाहिए था; 'लोकस्य' के आगे नहीं। अतएव, आलङ्कारिकों के मत में यहाँ अक्रम दोष हुआ।

उपसंहार।

बस, अब, यहाँ पर, इस लेख को हम समाप्त करते हैं। यहाँ तक जो दोष दिखलाये गये हैं वे, दो एक को छोड़ कर, कालिदास के केवल रघुवंश और कुमारसम्भव के हैं। प्राचीन टीकाकारों और अलङ्कार शास्त्र पर ग्रन्थ लिखनेवालों ने, कुछ के सिवा, और इन सब दोषों का उल्लेख किसी न किसी रूप में किया है।

آخری درج شدہ تاریخ پر یہ کتاب مستعار
لی گئی تھی مقررہ مدت سے زیادہ رکھنے کی
صورت میں ایک آنہ یومیہ دیرانہ لیا جائیگا۔